लेखक

- ★ छह परीक्षाओं में प्रथम श्रेणी प्राप्त की।
- ★ छह परीक्षाओं में प्रथम स्थान प्राप्त किया।
- ★ आगरा विश्वविद्यालय की एम०लिट० परीक्षा में सर्वाधिक अंक प्राप्त किये।
- ★ आगरा विश्वविद्यालय की एम०लिट्० परीक्षा के शोध-प्रबंध में उच्चतम वर्ग प्राप्त करने वाले एकमात्र व्यक्ति हैं।
- ★ आगरा विश्वविद्यालय से भाषिकी में पी-एच०डी० प्राप्त करने वाले प्रथम व्यक्ति हैं।
- ★ हिन्दी, संस्कृत, गुजराती, उड़िया, मराठी, कोर्कू आदि भारतीय भाषाओं के अतिरिक्त अँगरेजी, रूसी, फ्रेंच, स्पेनी आदि विदेशी भाषाओं के ज्ञाता हैं।
- ★ केन्द्रीय भाषा-संस्थान के प्रथम वरिष्ठ अनुसंधाता हैं।
- ★ केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय के तत्वावधान में संचालित 'भारतीय समाचार-पत्रों में व्यवहृत पारिभाषिक शब्दावली' नामक शोध-योजना में हिन्दी के वरिष्ठ सम्पादक रहे।
- ★ विक्रम विश्वविद्यालय में परिसचिव-पद पर हिन्दीकरण अधिकारी रहे।
- ★ भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय में हिन्दी-शिक्षा-समिति के विशेषज्ञ सदस्य रहे।
- ★ केन्द्रीय हिन्दी-निदेशालय के लिए भारत सरकार द्वारा नियुक्त उच्चाधिकार–समिति के सदस्य रहे।
- ★ केन्द्रीय हिन्दी-संस्थान की शासी परिषद् के सदस्य रहे।
- ★ विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोग द्वारा गठित विषय-समिति, निरीक्षण-समिति, चयन-समिति आदि के सदस्य/अध्यक्ष रहे।
- ★ भाषिकी के अनेक अखिल भारतीय उपक्रमों के निदेशक रहे।
- ★ सम्प्रति कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय पें भाषिकी-विभाग के आचार्य और अध्यक्ष हैं तथा कला एवं भाषा-संकाय के अधिष्ठाता हैं।

देवनागरी

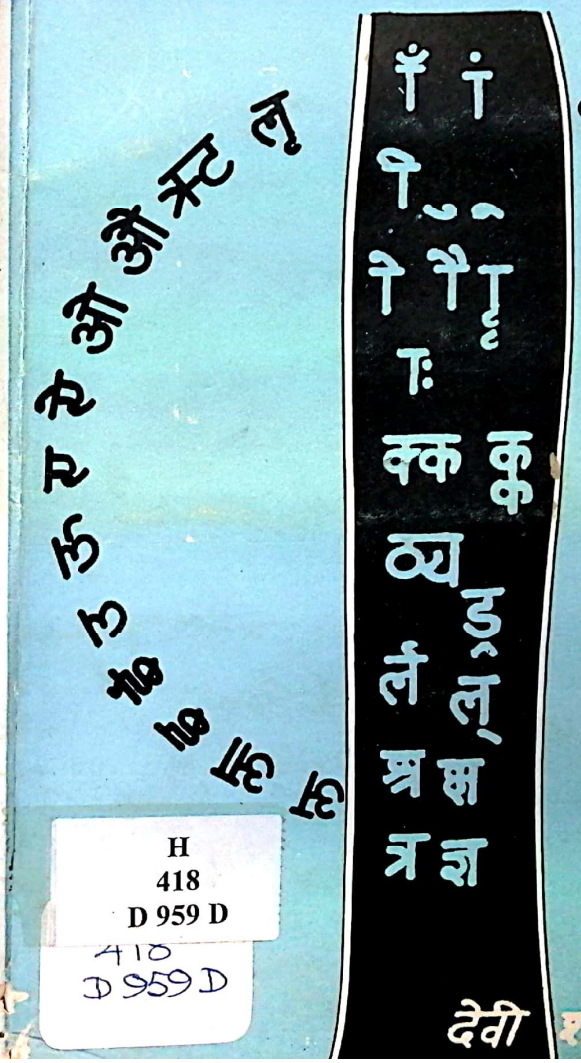

H
418
D 959 D
410
D 959 D

देवी शंकर द्विवेदी

इस पुस्तक की देन

★ लेखन, लिखावट और लिखाई : इन तीन संबोधों की स्थापना ।

★ अक्षरमाला, लिपि, लिप्युक्ति और वर्त्तनी : इन चार संबोधों की स्थापना ।

★ लिपि के सैद्धांतिक प्रकारों का सम्यक् अनुशीलन ।

★ क्या किसी लिपि का सुधार सचमुच उसका 'सुधार' होता है ?

★ देवनागरी की वैज्ञानिकता की परीक्षा के लिए उसके अपने वैज्ञानिक आधार की खोज ।

देवनागरी में

★ अक्षरमाला एक स्वनिमात्मक वर्णमाला है ।

★ व्यंजनाक्षरों में 'अ' स्वर निहित क्यों माना गया ?

★ स्वरों की मात्राएँ व्यंजनाक्षर के चतुर्दिक् लगाना अवैज्ञानिक नहीं है ।

★ व्यंजनों का उत्तरांश 'अ' स्वर का द्योतक नहीं है ।

★ वर्त्तनी की अधिकतर अशुद्धियाँ मात्राओं में तथा बिन्दु में मिलती हैं ।

प्रशान्त प्रकाशन
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय
कुरुक्षेत्र-१३२ ११९

मूल्य 30 रुपये

लेखक

★ अखिल भारतीय शरत्कालीन तथा ग्रीष्मकालीन भाषिकी-सत्रों में सन् १९६० ई० से अध्यापन आरंभ किया। इस प्रकार आज भारतीय विश्वविद्यालयों में भाषिकी के पीठासीन आचार्यों में वरिष्ठतम अखिल भारतीय अध्यापक हैं।

★ सर्वप्रथम सन् १९६५ में सागर विश्वविद्यालय के भाषिकी के स्नातकोत्तर एवं शोध-विभाग के अध्यक्ष नियुक्त हुए। इस प्रकार आज भाषिकी के पीठासीन भारतीय आचार्यों में वरिष्ठतम विभागाध्यक्ष हैं।

★ ड्यूक विश्वविद्यालय अमरीका में अतिथि अध्यापक रहे।

★ ऑक्सफ़ोर्ड, कैम्ब्रिज, कॉर्नेल, पेन्सिलवेनिया, शिकागो, रोचेस्टर, बेलग्रेड, नोवीसाद, ज़ागरेब, सरायेवो, स्कोप्ये आदि विदेशी विश्वविद्यालयों में नियुक्त/निमंत्रित हुए।

★ भारत के अतिरिक्त इंग्लैंड, अमरीका, फ्रांस और जर्मनी में शोध-निबन्ध प्रकाशित हुए।

★ भारतवर्ष के प्रथम श्रेणी के विश्वविद्यालयों में अग्रणी जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय नई दिल्ली में भाषिकी एवं अँगरेज़ी विभाग के आचार्य-अध्यक्ष रहे।

★ नवम दशक में कुरुक्षेत्र, सागर, जबलपुर, भोपाल प्रभृति विश्वविद्यालयों के कुलपति-पद के लिए अधिकृत रूप से प्रस्तावित हुए।

देवनागरी

देवीशंकर द्विवेदी

प्रशान्त प्रकाशन
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय
कुरुक्षेत्र–१३२ ११९

प्रकाशक :
प्रशान्त प्रकाशन
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय
कुरुक्षेत्र–१३२ ११९

प्रथम संस्करण : १९९०
मूल्य : ३० रुपये

H
418
D959D

Library IIAS, Shimla
H 418 D 959 D
00094493

INDIAN INSTITUTE OF ADVANCED STUDY
94493
07/3/2000

मुद्रक :
एच०आर० प्रिंटिंग प्रेस, कुरुक्षेत्र
कुरुक्षेत्र–१३२ ११८

प्राक्कथन

इस संकलन के चारों निबन्ध देवनागरी के मूल्यांकन से संबंधित हैं। प्रथम तीन निबन्ध परस्पर ताल-मेल वाले हैं जबकि चौथा निबन्ध भिन्न प्रकार का है। उसका संबंध हिन्दी की वर्त्तनी से है, देवनागरी लिपि के मूल्यांकन से नहीं।

चारों निबन्धों का स्वर विश्लेषण और चिन्तन का है। यह तो मैं नहीं स्वीकार करता कि निबन्ध कठिन हैं; लेकिन यह अवश्य अनुभव करता हूँ कि इन्हें सावधानी से पढ़ने की आवश्यकता है। ऐसे बहुत से अंश और वाक्य हैं जो विस्तृत व्याख्या की अपेक्षा करते हैं और जिनकी व्याख्या पाठक तभी कर सकेंगे जब उन्होंने संबंधित निबन्ध को ध्यानपूर्वक पढ़ते हुए हृदयंगम कर लिया हो।

मुझे बहुत प्रसन्नता होगी यदि देवनागरी के प्रति हमारी समझ को इन निबन्धों से कुछ स्पष्टता का योग-दान हो पाएगा।

पुस्तक मोरारजी भाई को समर्पित करके कुछ विशिष्ट सन्तोष का अनुभव कर रहा हूँ। वे राजनेता हैं लेकिन विद्या का इतना सम्मान उन्होंने किया है जितना विद्यासेवी भी नहीं करते। दो मर्मस्पर्शी घटनाओं का उल्लेख यहाँ कर रहा हूँ। आचार्य किशोरीदास वाजपेयी का सम्मान किया जाना था; मंच पर देश के प्रधानमंत्री मोरारजी भाई के निकट आने के लिए वाजपेयीजी का नाम पुकारा गया। वाजपेयीजी अपने स्थान पर खड़े हो गये और बोले,—"यदि किसी को सचमुच मेरा सम्मान करना है तो आए, मेरा सम्मान कर ले। मैं सम्मान करवाने के लिए मंच तक क्यों जाऊँ?" मोरारजी भाई तत्काल मंच से उतरकर नीचे आये और उन्होंने सहर्ष वाजपेयीजी का सम्मान किया। उनके बड़प्पन से अभिभूत वाजपेयीजी ने झुककर उनका चरण-स्पर्श किया। दूसरा प्रसंग है उनका मेरे घर पर पधारना। वे कुरुक्षेत्र आये हुए थे, उनकी कार पर जनता पार्टी का झंडा था। शाम को जब वे मेरे आवास पर पधारे तो कार का झंडा उतार दिया गया था। हरियाणा जनता पार्टी और हिमाचल जनता पार्टी के अध्यक्ष उनके साथ थे। लगभग घंटे भर में सब लोग चले गये। बाद में मैंने झंडे के रहस्य का पता लगाया। ज्ञात हुआ कि मोरारजी भाई ने रास्ते में कार रोककर झंडा उतरवा दिया था क्योंकि वे दलगत राजनीति से दूर एक अध्यापक के घर जा रहे थे। मुझे रोमांच हो आया। इतना बड़ा नेता इतने छोटे विवरणों में भी दूसरों का इतना ध्यान रख सकता है!

उनकी जीवन-चर्या अनवरत महात्मा गांधी का स्मरण दिलाती है। जीवन भर मंत्री, मुख्यमंत्री, वित्तमंत्री, उपप्रधानमंत्री तथा प्रधानमंत्री-सरीखे पदों पर रहने के बाद भी उनके पास रहने के लिए अपना मकान तक नहीं है। पत्र लिखने के लिए पोस्टकार्ड हैं और उनके अपने हाथ हैं।

इन्दिरा जी से उनका ताल-मेल नहीं रहता था; लेकिन उनका विरोध करते हुए भी मोरारजी भाई उनका उल्लेख सदैव 'इन्दिरा बहन' के रूप में करते थे। इन्दिराजी की हत्या के बाद उनकी प्रतिक्रिया बड़ी मार्मिक थी—"काश ! मैं उस समय वहाँ रहा होता ताकि उन गोलियों को अपने सीने पर झेल लेता !"

मैंने अब तक प्रकाशित अपनी चार पुस्तकों में से दो असमर्पित छोड़ दी थीं; दो ऐसे व्यक्तियों को समर्पित की थीं जिनका कार्यकाल पूरा हो चुका था। मोरारजी भाई अब राजनीति के अपने सारे चरण पूरे कर चुके हैं। वे गुणों के एक ऐसे पुंज के रूप में दिखते हैं जो सदा-सर्वत्र अपनी आभा बिखेरते रहने पर विवश है, देश-काल का बन्धन इस बात पर नहीं मानता।

उनके राजनैतिक विरोधियों का धर्म था कि राजनीति में रहते हुए उनका विरोध करें। मुझे विश्वास है कि व्यक्तिगत रूप से प्रत्येक व्यक्ति यह स्वीकार करेगा कि मोरारजी भाई बनना बहुत दुष्कर है; मोरारजी भाई के लिए वह सुकर इसलिए हुआ कि ईश्वर ने उन्हें मोरारजी भाई ही बनाया था।

उन्हें यह पुस्तक समर्पित करते हुए मुझे ऐसा लग रहा है जैसे मन्दिर में देव-प्रतिमा को मैंने एक पुष्प अर्पित किया है।

पुस्तक-लेखन-क्रम में भी परिवार की भूमिका उतनी ही प्रमुख होती है, जितनी जीवन के अन्य कार्यों में। पत्नी कुसुम, पुत्र विवेक प्रशान्त और पुत्री मनीषा स्मिता का योग-दान इस दृष्टि से स्मरणीय है। अनुज डा० विनयकुमार अस्थाना ने मुखपृष्ठ का चित्र बनाया है, उन्हें मेरा स्नेहाशीष ! पुस्तक का मुद्रण करने में श्रीमती हरीश्वरानी का योग-दान स्मरणीय है और उनसे भी अधिक स्मरणीय है मुद्रण करवाने में मेरे प्रिय शिष्य श्री देवराज बिज की तत्परता। मेरा आभार !

११ अप्रैल, १९९०

देवीशंकर द्विवेदी

श्रद्धेय
श्री मोरार जी भाई देसाई को सविनय
जिनके अविचल व्यक्तित्व में
एक आदर्श राजनेता
एक सुदृढ़ प्रशासक
एक अप्रतिम देशभक्त
एक नैतिक योद्धा
एक अलौकिक विचारक
एक तपः पूत सन्त
और
एक अनासक्त योगी
के
अनूठे गुणों का
अविजित समन्वय है।

अनुक्रम

१. देवनागरी और हिन्दी १

२. देवनागरी : एक पुनर्दृष्टि १६

३. देवनागरी लेखन ४२

४. देवनागरी लिपि में हिन्दी वर्त्तनी की अशुद्धियाँ ६६

देवनागरी और हिन्दी

लिपि भाषा का प्रतिरूप होती है। वह कुछ बातों में भाषा की अपेक्षा अधिक समर्थ तथा कुछ बातों में अपेक्षाकृत असमर्थ होती है। सामर्थ्य और असामर्थ्य के जो लक्षण किसी भी लिपि में अनिवार्यतः होते हैं, उनकी चर्चा हम यहाँ नहीं करेंगे। हम अपना ध्यान उसी सामग्री तक मुख्य रूप से केन्द्रित रखेंगे जो प्रायः खंडीय स्वनिमों के माध्यम से व्यक्त होती है। खंडेतर स्वनिमों का द्योतन करने की प्रणालियाँ भी लिपियों में मिलती हैं। अनुतान के द्योतन के लिए हम लोग भी पूर्णविराम, अर्द्धविराम, अल्पविराम, प्रश्नवाचक चिह्न तथा आदेशवाचक चिह्न का उपयोग करते हैं। वस्तुतः इन चिह्नों का मूल्य मार्गिमिक हो जाता है और सुर-स्तर तथा अन्त्यर के स्वनिमों के वितरण व प्रसार का स्वरूप समग्र वाक्य में स्पष्ट नहीं हो पाता; फिर भी भाषा की एक खंडेतर इकाई का द्योतन तो इन चिह्नों से होता ही है।

देवनागरी की वैज्ञानिकता-अवैज्ञानिकता का प्रश्न प्रायः उठाया जाता है। कई बार कुछ मिलते-जुलते संबंधों में भ्रान्ति और मिश्रण करके देवनागरी को वैज्ञानिक अथवा अवैज्ञानिक ठहराया जाता है। इस प्रश्न पर विचार करना यहाँ अभीप्सित है।

लिपि-निर्माण के पहले एक प्रश्न यह उठता है कि भाषा की किस स्तर की इकाइयों के द्योतन के लिए अक्षर ('लेटर') बनाये जायें। भाषा और लिपि के इस संवाद की दो दिशाएँ हैं—एक तो संयोजनमूलक और दूसरी स्थानापत्ति-मूलक। संयोजन की दृष्टि से देखें तो लघुतम इकाई स्वनतत्त्व या स्वन या स्वनिम होगी जबकि दीर्घतम इकाई सम्पूर्ण वक्तृता होगी। सम्पूर्ण वक्तृता के लिए एक अक्षर का निर्माण करें तो लिपि नहीं बन सकेगी क्योंकि कोई वक्तृता पूरी की पूरी शायद ही कभी दुहराई जाती हो। वक्तृताएँ असंख्य होती हैं और प्रत्येक वक्तृता के लिए एक अक्षर का निर्माण करें तो असंख्य अक्षर आवश्यक होंगे। यदि किसी लिपि में 'असंख्य' अक्षरों की आवश्यकता हो तो लिपि पूर्ण कैसे हो सकेगी! उसमें तो अनन्त काल तक अक्षर बनते ही रहेंगे। वक्तृता से छोटी इकाई वाक्य ली जा सकती है जो भाषा की 'इकाई' के रूप में अपेक्षाकृत अधिक विश्लेषण-गम्य भी है। यदि प्रत्येक वाक्य के लिए एक अक्षर का

निर्माण करना हो तो भी बात नहीं बनती क्योंकि संभव वाक्य भी असंख्य हैं। असंख्य वाक्यों के लिए हमें फिर असंख्य अक्षरों की आवश्यकता होगी। वाक्यों से छोटी इकाइयाँ लें और वाक्यांशों अथवा पदबन्धों के लिए अलग-अलग अक्षर बनाएँ तो अपेक्षाकृत कम अक्षर आवश्यक होंगे, किन्तु फिर भी उनकी असंख्यता बनी रहेगी क्योंकि वाक्यांशों और पदबन्धों की स्वीकार्य लम्बाई की सीमा निर्धारित नहीं है। इनसे छोटी इकाई है शब्द की जो अर्थ-द्योतन भी करता है और अपेक्षाकृत छोटा भी होता है। इन दोनों लक्षणों वाली लघुतर (और लघुतम) इकाई है मर्षिम। किसी भी भाषा में शब्दों और मर्षिमों की संख्या बहुत बड़ी होती है; किन्तु न शब्द असंख्य होते हैं, न मर्षिम। यही कारण है कि संयोजनमूलकता के बृहत्तम सिरे पर मिलनेवाली लिपि में शब्दों या मर्षिमों के लिए अक्षर निर्धारित होते हैं। इस प्रकार की लिपि को सामान्यतः चित्र-लिपि कहा जाता है। शब्दों के लिए अक्षर निर्धारित करने के बजाय मर्षिमों के लिए अक्षर निर्धारित करने से अपेक्षाकृत कम अक्षरों की आवश्यकता पड़ती है। शब्दों या मर्षिमों को निर्दिष्ट करनेवाले अक्षरों वाली लिपि में उच्चारण पर बल नहीं रहता; इसलिए यह भी संभव है कि एक ही लिपि का प्रयोग करके मिलती-जुलती भाषाएँ बोलनेवाले जन-समुदाय लिखकर एक-दूसरे की बात भली भाँति समझ लें यद्यपि बोलने में वे बोधगम्य न हों।

अर्थद्योतक इकाइयों को छोड़कर यदि हम रूपात्मक पक्ष पर विचार करें तो वर्ण ('सिलेबिल') मर्षिम की अपेक्षा छोटी इकाई है। यदि हमें किसी ऐसी लिपि का निर्माण करना हो जिसके अक्षर वर्णों का निर्देश करते हों तो हमें अपेक्षाकृत कम अक्षरों की आवश्यकता पड़ेगी। ऐसी लिपि को हम वर्णमाला ('सिलेबरी') कह सकते हैं। किसी 'पूर्ण' तथा 'शुद्ध' वर्णमाला में किसी भाषा के सारे वर्णों के लिए अलग-अलग अक्षर अपेक्षित हैं।

संयोजनमूलकता के दूसरे (अर्थात् लघुतम) सिरे पर मिलनेवाली लिपि स्वनतत्त्वों का निर्देश करेगी। उदाहरणार्थ, 'क्' ध्वनि का निर्देश 'स्पर्श+कंठ्य+अघोष+अल्पप्राण' इन चार स्वनतत्त्वों से किया जा सकता है। इस सिरे से आगे बढ़ने पर हमें स्वनिक/सांस्वनिक, स्वानिमिक और मर्षस्वानिमिक लिपियाँ* प्राप्त होती हैं जो किसी-न-किसी स्तर पर 'स्वन' को ही अपना आधार बनाती हैं।

स्थानापत्तिमूलक दृष्टि से देखें तो सरलतम स्थिति यह है कि स्थानापत्ति में १ : १ का अनुपात हो अर्थात् (उदाहरणार्थ स्वानिमिक लिपि में) जिस

* देवीशंकर द्विवेदी; भाषा और भाषिकी (द्वितीय संस्करण); पृ० १७७-१७८.

स्वनिम के निर्देश के लिए जिस अक्षर का निर्धारण हुआ है, उस स्वनिम के लिए वही अक्षर सभी स्थलों पर आए और वह अक्षर प्रत्येक स्थल पर उसी स्वनिम का निर्देश करे, किसी अन्य स्वनिम का नहीं। यदि किसी स्वनिम का निर्देश कहीं एक अक्षर करता है, कहीं दूसरा; तो स्थानापत्ति में वृद्धि हो जाती है। एक अक्षर कहीं एक स्वनिम का निर्देश करता है, कहीं किसी दूसरे स्वनिम का; तो दूसरी दिशा से स्थानापत्ति में वृद्धि हो जाती है। स्थानापत्ति की जटिलता की मात्रा न्यूनाधिक हो सकती है।

देवनागरी पर विचार करने के पहले हमें यह भी निश्चित कर लेना चाहिए कि देवनागरी लिपि कौन-सी है। यह प्रश्न इसलिए उठता है कि देवनागरी में कई बार हेर-फेर हुए हैं जिन्हें 'सुधार' कहा गया है। वस्तुतः ऐसे सुधारों को 'सुधार' कहना बहुत उचित नहीं है क्योंकि कुछ दृष्टियों से ये सुधार 'बिगाड़' भी हो जाते हैं। अधिकतर सुधार प्रायः किसी भाषा या किन्हीं भाषाओं के सन्दर्भ में लिपि के 'अनुकूलन' ('एडैप्टेशन') होते हैं।

यहाँ एक प्रश्न यह उठता है कि किसी लिपि में कितना हेर-फेर कर देने के बाद भी उसके लिए उसी लिपि का नाम चलता रह सकता है। इस प्रश्न का उत्तर बहुत निश्चयात्मक रूप से नहीं दिया जा सकता क्योंकि अन्ततः यह बात यादृच्छिकता पर आ जाती है। यदि हम किसी लिपि के किसी एक अक्षर में कुछ हेर-फेर कर दें या केवल एक अक्षर घटा-बढ़ा दें और अब समग्र लिपि की चर्चा पिछली समग्र लिपि के सन्दर्भ में करना चाहें तो उसे एक सर्वथा नया नाम भी दे सकते हैं। चाहें तो पुराने नाम का ही प्रयोग करते रहें। व्याख्या आवश्यक हो तो एक वाक्य या वाक्यांश जोड़ दें, उदाहरणार्थ—'अमुक लिपि : अमुक परिवर्तन के बाद या अमुक संस्था के (या अमुक सन् के) परिवर्तन के बाद'।

इस समस्या से संबंधित एक प्रश्न यह उठता है कि लिपि है क्या। क्या वह कुछ अक्षरों (अर्थात् आकृतियों) का पुंज-मात्र है या उसमें उन अक्षरों का भाषागत मूल्य अर्थात् उच्चारण या (चित्रलिपि में) अर्थ भी सम्मिलित है? उदाहरण लेकर कहें तो यदि हम 'कर्म' लिखें और उसे वंध रूप से 'लिंक' पढ़ें तो क्या इसे देवनागरी लिपि कहा जायगा? मैं निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता कि भिन्न-भिन्न लोग इस प्रश्न का क्या उत्तर देंगे। पता नहीं किसी ने यह प्रश्न कभी इस आत्यन्तिक रूप में अपने समक्ष रखा भी है या नहीं। मुझे लगता है कि अधिकतर लोग इसे देवनागरी ही कहेंगे यद्यपि साथ में शायद यह भी जोड़ देंगे कि इसमें अक्षरों का ध्वनिगत मूल्य बदल गया है या बदल दिया गया है। प्रचलित उदाहरणों की परीक्षा करें। रोमन में अँगरेजी का 'हैम' रूसी में

'नात' पढ़ा जायगा; रूसी नाम 'नताशा' अँगरेजी में 'हमावा' पढ़ा जायगा। इस उदाहरण में 'डब्ल्यू' के अन्त में ऊपर घुंडी नहीं होगी, रेखा उतरकर नीचे आएगी; लेकिन इस भेद पर शायद अँगरेजी-समाज का ध्यान तक नहीं जाएगा। अर्थात् दोनों भाषाओं में प्रचलित लिपि में इन अक्षरों में परस्पर आकृति-साम्य है लेकिन इन अक्षरों से सम्बद्ध ध्वनियाँ दोनों भाषाओं में भिन्न-भिन्न हैं। अँगरेजी की लिपि रोमन है, रूसी की लिपि का नाम सिरिलिक है। दूसरी ओर अँगरेजी और फ्रांसीसी का उदाहरण लें तो एक ही प्रकार लिखा हुआ शब्द अँगरेजी में 'ट्रेन' पढ़ा जाता है, फ्रांसीसी में 'त्रें' पढ़ा जाता है। यहाँ भी दोनों भाषाओं में प्रचलित लिपि के अक्षरों में आकृति-साम्य है लेकिन ध्वनि-साम्य नहीं है। नामकरण की स्थिति यहाँ भिन्न है : अँगरेजी और फ्रांसीसी इन दोनों ही भाषाओं की लिपि का नाम रोमन है। मराठी और हिन्दी में 'रेफ़' की आकृति में भेद होता है कुछ अक्षरों के ध्वनिगत मूल्य में भी कुछ स्थलों पर भेद मिलता है; लेकिन दोनों की लिपि का नाम देवनागरी है। अँगरेजी-फ्रांसीसी और मराठी-हिन्दी में लिपि के नामकरण की जो प्रवृत्ति मिलती है, उससे अँगरेजी-रूसी की प्रवृत्ति भिन्न है। एक अन्तर यह भी है कि समान आकृति वाले अक्षरों के ध्वनिगत मूल्य में परस्पर जितना अन्तर अँगरेजी और रूसी के बीच है अन्य उदाहृत भाषाओं में उतना अधिक अन्तर नहीं मिलता। दूसरे अँगरेजी और रूसी की लिपियों में भिन्न आकृतिवाले अक्षरों की संख्या अनल्प है। लेकिन इन दोनों लिपियों के नामकरण का भेद इन दोनों कारणों से है. ऐसा नहीं समझना चाहिए। रूसी भाषा के लिए रोमन को अनुकूलित करनेवाले व्यक्ति सिरिल के नाम पर उसका नामकरण कर दिया गया, यह एक संयोग की बात है। उतने ही यादृच्छिक रूप से उसे रोमन ही कहते रहा जा सकता था; अन्तर करना होता तो उसे 'रूसी रोमन' कहा जा सकता था।

इसका अर्थ यह हुआ कि हमें संबोधों को समझ लेना चाहिए; प्रचलित नामकरण से इस प्रक्रिया में कोई सहायता नहीं लेनी चाहिए। उपर्युक्त चर्चा के परिप्रेक्ष्य में हम अपने उपयोग के लिए निम्नलिखित शब्दावली निर्धारित कर सकते हैं :—

१. **आक्षरिकी या ककहरा** :—अक्षरों (लेटर्स') तथा चिह्नों ('डायक्रिटिक्स') की तालिका।

२. **लिपि** :—अक्षरों तथा चिह्नों के संयोजन की प्रणाली।

३. **लिप्युक्ति** :—लिपि का भाषायी इकाइयों (उच्चारण या अर्थ आदि) से संवाद। ध्यान रहे कि साधारणतः इस अर्थ में भी 'लिपि' शब्द का प्रयोग

प्रचलित है। अतएव आवश्यकता पड़ने पर ही हम 'लिप्युक्ति' शब्द का प्रयोग करेंगे।

४. **वर्त्तनी** :—शब्दों, वाक्यों आदि के लिए अपनाई जाने वाली लिप्युक्ति।

चूँकि देवनागरी मूलतः संस्कृत भाषा के संदर्भ में थी, इसलिए हम उसके पुराने मूल्य की ही चर्चा करेंगे क्योंकि उसकी वैज्ञानिकता-अवैज्ञानिकता का उचित विवेचन उसके मूल सन्दर्भ में ही हो सकता है। उपयुक्त बात तो यह हो कि तथाकथित 'सुधारों' के बाद प्राप्त होने वाली उसकी विविध अवस्थाओं का द्योतन भिन्न-भिन्न नामों से नहीं तो देवनागरी-१, देवनागरी-२ आदि शीर्षकों से कराया जाय।

देवनागरी अक्षरों की तालिका को वर्णमाला कहा गया है क्योंकि संस्कृत के लिए अपनाई गई इस लिप्युक्ति का प्रत्येक अक्षर वस्तुतः एक वर्ण ('सिलेबिल') होता है। स्वर तो वार्णिक होते ही हैं; प्रत्येक व्यंजनाक्षर मे 'अ' वार्णिक अनिवार्य रूप से विद्यमान होता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि देवनागरी शुद्ध रूप से 'केवल' एक वर्णमूलक लिपि है। 'केवल' वर्णमूलक लिपि में प्रत्येक वर्ण के लिए एक स्वतन्त्र अक्षर अपेक्षित होगा; वर्णों के घटकों का साम्य खोजकर किसी एक अक्षरांश, अक्षर या चिन्ह का प्रयोग उसके घटको के लिए नहीं किया जायगा। उदाहरणार्थ, 'क' तथा 'का' दो भिन्न-भिन्न वर्ण हैं इनके लिए ○ तथा △ सरीखे चिन्हों का निर्धारण करना शुद्ध वर्णमूलकता' होगी क्योंकि इनमें समान रूप से विद्यमान 'क्' स्वनिम के लिए कोई एक अक्षरांश प्रयुक्त नहीं हुआ है। ऐसी वर्णमूलक लिपि मे अक्षरों की संख्या बहुत अधिक हो जायगी।

देवनागरी 'प्रधानतः' एक वर्णमूलक लिपि है क्योंकि उसमें आधार वर्ण को बनाया गया है यद्यपि उसके घटक स्वनिमों के साम्य-वैषम्य का भी लाभ उठाया गया है। इस साम्य-वैषम्य की उपेक्षा करना एक महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक तथ्य की उपेक्षा करना होता। स्वनिम की सत्ता स्वीकार करके अर्थ-भेदकता के स्तर पर लघुतम व्यावहारिक इकाई को पहचाना गया है। यह एक वैज्ञानिक सत्य की उपलब्धि रही है और लिपि-निर्माण में इसकी वांछित उपादेयता भी रही है। दूसरी ओर, भाषा की स्वतः उच्चारण-योग्य लघुतम इकाई 'वर्ण' होती है; इसलिए लिपि को वर्णमूलक आधार देना भी एक वैज्ञानिक सत्य को अंगीकार करना रहा है। इस दृष्टि से हम देवनागरी की आक्षरिकी को 'स्वनिमात्मक वर्णमाला' कह सकते हैं। तीसरी उल्लेखनीय बात है देवनागरी के व्यंजनाक्षरों में अनिवार्य रूप से निहित मानने के लिए 'अ' स्वर के चयन की। प्राचीन भारतीय विचारकों ने 'अ' को मूल स्वर माना है। आधुनिक स्वनज्ञ इसमें इ, उ आदि की अपेक्षा कोई अन्य 'मूलता' नहीं खोज पाते रहे हैं। एक्स-रे फ़िल्मों से यह रहस्योद्घाटन हुआ है कि उच्चारण के पूर्व वक्ता की

जिह्वा जिस स्थिति में पहुँच जाती है, वह 'अ' स्वर की स्थिति है। इस प्रकार वाक् के प्रारंभ की अनिवार्य मूल स्थिति से उत्पन्न होने वाले स्वर को 'मूल' स्वर मानना भी वैज्ञानिक और स्वनिक तथ्य है तथा व्यंजनाक्षरों में निहित मानने के लिए उसका चयन भी स्वाभाविक और वैज्ञानिक है। देवनागरी की वैज्ञानिकता-अवैज्ञानिकता का विवेचन करने के पूर्व हमें उस लिपि का वैज्ञानिक धरातल ठीक-ठीक समझ लेना चाहिए।

जो लोग कहते हैं कि 'आ' को कहीं 'आ' तो कहीं 'ा' लिखना अवैज्ञानिक है, वे देवनागरी की वैज्ञानिकता का स्वरूप नहीं समझ पाये हैं और जाने-अनजाने रोमन लिपि के सिद्धान्त से प्रभावित हो गये हैं। देवनागरी के अतिरिक्त और कोई लिपि ऐसी नहीं है† जो स्वनिमों के निर्देश के साथ-साथ वर्णों की संख्या और उनकी सीमाओं का भी निर्देश करती चले। 'आ' के प्रयोग से हमें ज्ञात हो जाता है कि इस वर्ण-न्यष्टि पर कोई पूर्ववर्त्ती व्यंजन या व्यंजनानुक्रम आश्रित नहीं है; 'ा' के प्रयोग से हमें यह सूचना मिल जाती है कि इस वर्ण-न्यष्टि पर कोई पूर्ववर्त्ती व्यंजन या व्यंजनानुक्रम आश्रित है। संस्कृत में व्यंजनान्त वर्ण विरल हैं, इसलिए उनके निर्देश के लिए 'अ' युक्त अन्तिम व्यंजनाक्षर में अ' के लोप के लिए हलन्त-चिह्न लगाने से कोई झंझट नहीं बढ़ता और हलन्त-चिह्न से यह व्यक्त हो जाता है कि वह व्यंजन अपने पूर्ववर्ती वर्णिक पर आश्रित है। यह कहना भी नासमझी है कि देवनागरी में मात्राओं का दाएँ-बाएँ ऊपर-नीचे लगना 'अवैज्ञानिक' है। 'वैज्ञानिकता' और 'एकरूपता' समानार्थी शब्द नहीं हैं। एक द्रव के जो लक्षण होते हैं, उससे मिलते-जुलते सारे द्रवों के वही लक्षण नहीं होते। एक मात्रा जिस स्थान पर लगती है, दूसरी मात्रा का उसी स्थान पर लगना आवश्यक नहीं है। संयुक्त व्यंजनों में तथा मात्राएँ व अन्य चिह्न लगाने में मुख्य ध्येय होता है वर्ण का सीमांकन। साथ-साथ इस बात का निर्देश कर दिया जाता है कि वर्ण-न्यष्टि कौन-सा स्वर है। इस निर्देश के लिए मात्रा कहाँ लगायी जाय, यह बात गौण है। जो लोग कहते हैं कि व्यंजनानुगामी स्वरों का निर्देश करने वाली मात्राएँ अनिवार्यतः व्यंजनाक्षरों के बाद सीधी रेखा में लिखी जानी चाहिए, वे स्वनिमात्मक विचारों से प्रभावित होते हैं। 'वर्णमूलकता' के कारण मात्राओं का स्थान महत्त्वपूर्ण नहीं रह जाता।

ऊपर कहा गया है कि देवनागरी लिपि की कुछ वैज्ञानिकता उसके स्वनिक 'यथार्थ' की है। मूल स्वर 'अ' की चर्चा में इसका उदाहरण विद्यमान है। मात्राओं का निर्देश यदि स्वनिक यथार्थ की भी रक्षा करे और अनुक्रम पर ध्यान रखते हुए एक सीधी रेखा में प्राप्त हो तो यह बात पूर्णतः वैज्ञानिक होगी। लेकिन सीधी रेखा में आनुक्रमिक रूप से उनका प्राप्त न होना लिपि

† देवनागरी पर आधारित लिपियों को छोड़कर।

के 'वर्णमूलक' आधार के कारण 'अवैज्ञानिक' नहीं होने पाता, वैज्ञानिकता के धरातल की संख्या अवश्य ही एक रह जाती है। वैज्ञानिकता का यही धरातल उसका मूल धरातल है। यह अवश्य है कि मात्राओं के भिन्न-भिन्न स्थानों पर लगने का वैसा कोई वैज्ञानिक उद्देश्य नहीं है जैसा 'आ' और 'ा' की आकृति-भिन्नता का। यह भी कहा जा सकता है कि स्वनिमानुक्रम को ध्यान में रखते हुए मात्राओं के लिए कोई एक निश्चित स्थान निर्धारित करके गौण धरातल पर भी वैज्ञानिकता का निर्वाह कर देना अधिक स्पृहणीय होता।

मात्राओं के संदर्भ में एक और बात भी उल्लेखनीय है। वर्ण में सर्वाधिक शक्तिशाली तत्व होता है उसकी न्यष्टि। वर्ण-न्यष्टि के लिए मात्रा का प्रयोग होने पर उसका स्थान गौण-सा हो जाता है। एक तो उसकी आकृति अपेक्षाकृत महत्वहीन दिखती है; दूसरे, व्यंजनाक्षर के इर्द-गिर्द उसे अपना कोई ठौर ढूंढ़ना पड़ता है। यह बात अकारण नहीं है कि विद्यार्थी मात्राओं के निर्देश में जितनी त्रुटियाँ करते हैं उनकी तुलना मे अक्षरों की त्रुटियाँ नगण्य-सी होती हैं*। प्रश्न यह उठता है कि शक्तिशाली तत्वों को लिपि में गौण स्थान देना और व्यंजनाक्षरों को प्रमुख स्थान देना कहाँ तक तर्कसम्मत है। इसका एक उत्तर तो यह है कि लिपि में इस प्रमुखता या गौणता के प्रदर्शन की कोई तात्त्विक आवश्यकता नहीं है क्योंकि सम्पूर्ण वर्ण को महत्व देने के बाद इस बात का मूल्य नहीं रहता। (यहाँ भी यह कहा जा सकता है कि इस प्रदर्शन की समुचित व्यवस्था करके गौण धरातल पर भी वैज्ञानिकता का निर्वाह अधिक श्रेयस्कर होता।) दूसरा सैद्धांतिक उत्तर यह है कि जिस प्रकार प्रदर्शन में नींव का महत्व नहीं होता, उसी प्रकार वर्ण-न्यष्टि का भी प्रमुख महत्व न होना स्वाभाविक है। तीसरा व्यावहारिक उत्तर यह है कि यदि मात्राएँ व्यंजनों का निर्देश करतीं तो कईगुनी मात्राओं की आवश्यकता पड़ती। जब कुछ मात्राओं की आवश्यकता पड़ने पर दाएँ-बाएँ ऊपर-नीचे सभी स्थानों का उपयोग करना पड़ता है, तब कईगुनी मात्राओं के लिए स्थान खोजना कितना कठिन होता, इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है।

देवनागरी आक्षरिकी की आकृति-मात्र की चर्चा की जाय तो वैज्ञानिकता-अवैज्ञानिकता का प्रश्न ही नहीं उठता। सरलता और कठिनता की बात अवश्य की जा सकती है; लेकिन यह बात भी सापेक्षता की है। देवनागरी के कुछ अक्षर उसके कुछ अन्य अक्षरों की अपेक्षा सरल/कठिन हैं। इसी प्रकार, देवनागरी के अक्षरों की अपेक्षा सरल/कठिन अक्षर संभव हैं।

* देवीशंकर द्विवेदी; देवनागरी लिपि में हिन्दी वर्त्तनी की अशुद्धियाँ; इस संकलन का चौथा लेख।

देवनागरी निष्युक्ति का विवेचन करें। चूँकि स्वनिम एक व्यतिरेकी इकाई है और उसका मूल्य उसकी कार्यकारिता में होता है, इसलिए उसके स्वनिक पक्ष का विवेचन तत्वत: आवश्यक नहीं है। इस दृष्टि से किसी भी स्वनिम के लिए कोई भी आकृति यादृच्छिक रूप से अपनाई जा सकती है। देवनागरी लिप्युक्ति इस दृष्टि से पूर्णत: वैज्ञानिक है। यदि हम यह स्वीकार करें कि स्वनिक पक्ष की गौणता के बावजूद उस धरातल पर भी वैज्ञानिकता का निर्वाह कर देना श्रेयस्कर है तो देवनागरी में आमूलचूल परिवर्तन आवश्यक हो जायगा। स्वन-तत्वों का निर्देश करने वाली लिपि के निर्माण की संभावना का संकेत पीछे किया जा चुका है। ऐसी लिपि के निर्माण में सैद्धान्तिक आपत्ति यह है कि बोली जानेवाली लघुतम इकाई स्वनिम होती है, स्वन-तत्व नहीं। व्यावहारिक आपत्ति यह है कि इससे लेखन-श्रम की मात्रा में वृद्धि हो जायगी। इन दोनों बातों का समाधान करते हुए ऐसा अवश्य किया जा सकता है कि अक्षरों की आकृति के निर्धारण में यादृच्छिकता बरतने के बजाय स्वन-तत्वों की आकृति के निर्धारण में यादृच्छिकता बरती जाय और उनका नियमित संयोजन करके पूर्णाक्षर बनाये जायँ तथा उनके मूल्य-निर्धारण का निर्वाह आद्योपान्त किया जाय। उदाहरणार्थ, हम यादृच्छिक रूप से मान लें कि स्पर्श ध्वनियों के लिए हम वृत्ताकार आकृति स्वीकार करेंगे। वृत्त को ही हम कठ्य मान लें, उसके ऊपर खिंची हुई आड़ी रेखा को हम तालव्यता का द्योतक मान लें, बाईं ओर खिंची हुई खड़ी रेखा को हम मूर्धन्यता का द्योतक मान लें, नीचे खिंची हुई आड़ी रेखा को हम दन्त्यता का द्योतक मान लें तथा नीचे लगे हुए शून्य को हम द्वयोष्ठ्यता का द्योतक मान लें। इन यादृच्छिक निर्णयों में हम अल्पप्राण-अघोष तत्व सम्मिलित मानें। फिर महाप्राण के लिए दाईं ओर आड़ा गिरता हुआ चिह्न लगाएँ और घोष के लिए वृत्त में विभाजक रेखा खींचें। अनुनासिकता के लिए हम दाईं ओर त्रिकोण बनाएँ। इन यादृच्छिक निर्णयों का नियमित संयोजन करने से हमें निम्न प्रकार के अक्षर स्पर्श व्यंजनों के लिए प्राप्त होंगे :—

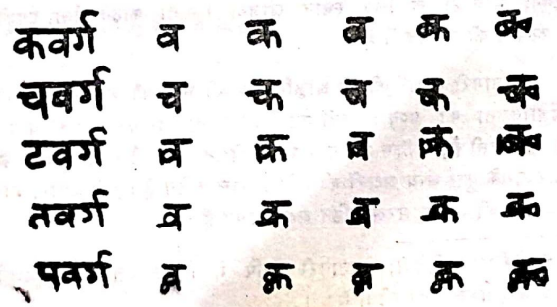

स्पष्ट है कि देवनागरी अक्षरों का निर्माण ऐसे सिद्धान्तों पर नहीं हुआ है। प-फ की आकृति का जो अन्तर महाप्राणत्व के अभाव-भाव का निर्देश करता है वह ब-क में भी विद्यमान है लेकिन ध्वनिगत अन्तर का वह स्वरूप इस युग्म में नहीं है। भ-झ की आकृति में भी वही अन्तर है लेकिन ध्वनिगत अन्तर भिन्न प्रकार का है। र-ब को निकट लाने से ख अक्षर बन जाता है; किन्तु ध्वन्यात्मक धरातल पर इस तथ्य का कोई औचित्य नहीं है। घ—ध में शिरोरेखा के अखंडित-खंडित होने से कंठ्य-दंत्य का अन्तर निर्दिष्ट हुआ है; म-भ में शिरोरेखा का अन्तर वही है किन्तु ध्वनिगत अन्तर भिन्न है। सारे कंठ्य-दंत्य स्पर्शों का अन्तर शिरोरेखा के अखंडित-खंडित होने से नहीं निर्दिष्ट होता, न नासिक्यों और सवर्गीय सघोष-महाप्राणों का अन्तर उससे निर्दिष्ट होता है। ड के बाद एक बिन्दु जोड़ने से ङ बन जाता है; लेकिन ध्वन्यात्मक धरातल पर इस तथ्य का भी कोई औचित्य नहीं है। ट के अर्धवृत्त को पूर्णवृत्त बनाकर उसका महाप्राण रूप ठ प्राप्त किया जाता है लेकिन अन्य महाप्राण रूपों के लिए यह पद्धति नहीं अपनाई जाती। ट के नीचे विपरीत अर्धवृत्त का योग उसका सघोष रूप ड निर्मित कर देता है, सघोष रूप प्राप्त करने के लिए यह पद्धति अन्यत्र नहीं मिलती। ट के नीचे एक घुंडी का योग करने से उसका सघोष-महाप्राण रूप ढ बन जाता है; घुंडी का यह मूल्य और कहीं नहीं मिलता। ण में र की आकृति विद्यमान है लेकिन ध्वन्यात्मक धरातल पर इसका कोई औचित्य नहीं है। एक खड़ी रेखा थोड़ा नीचे जाकर ढ को द बना देती है, थोड़ा ऊपर जाकर न को म बना देती है। रेखा का यह ध्वन्यात्मक मूल्य दोनों प्रसंगों में भिन्न-भिन्न है और इनमें से कोई भी मूल्य किसी भी अन्य प्रसंग में नहीं मिलता। प के भीतर की विभाजक रेखा उसे ष बनाकर जो ध्वन्यात्मक मूल्य अर्जित करती है, वह मूल्य ब को ब बनाकर उसे नहीं प्राप्त होता और इन दो में से किसी भी मूल्य के लिए उसका प्रयोग अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। ड को ह बनाने वाला चिन्ह कोई व्यवस्थित ध्वन्यात्मक मूल्य नहीं ग्रहण करता और किसी भी ध्वन्यात्मक मूल्य के लिए कहीं अन्यत्र प्रयुक्त नहीं होता। रा को स करने वाली आड़ी रेखा भी इसी कोटि की है। मात्रा-भेद के लिए अ—आ में जो भेद मिलता है, वह इ-ई तथा उ-ऊ में नहीं मिलता। अंतिम दोनों युग्मों में भी मात्रा-भेद के लिए भिन्न-भिन्न चिन्ह प्रयुक्त हुए हैं। आ-ओ-औ का निर्माण अ में मात्राएँ लगाकर हुआ है जबकि इ-ई-उ-ऊ-ए-ऐ में ऐसा नहीं हुआ है। या तो इनका निर्माण भी अ में मात्राएँ लगाकर (अि-अी-अु-अू-अे-अै) होना चाहिए था या आ-ओ-औ के लिए भी स्वतन्त्र अक्षरों का निर्माण किया जाना चाहिए था। आकृति से ऐसा लगता है कि अ का निर्माण उ से और अ का निर्माण प से हुआ है; ध्वन्यात्मक वास्तविकता ऐसी नहीं है। इ से इ के निर्माण का आभास होता है किन्तु ध्वन्यात्मक धरातल पर इसकी भी कोई संगति नहीं है।

ड में जो चिन्ह लगाकर इ बनाया जाता है, उसका ऐसा कोई संगत ध्वन्यात्मक मूल्य नहीं बन पाता; न वह अन्यत्र कहीं मिलता है। ' चिन्ह इ पर लगकर मात्रा-वृद्धि करता है, व्यंजनाक्षरों पर वही रेफ़ बन जाता है। प-फ में जो भेद महाप्राणत्व का समावेश करता है, उ-ऊ में वह मात्रा-वृद्धि करता है। ऐ की मात्रा ै है लेकिन स्वयं ऐ में उसका स्वरूप ै है।

देवनागरी वर्णमाला की एक उल्लेखनीय वैज्ञानिकता उसके अक्षरों की व्यवस्थित संयोजना है। सबसे पहले स्पर्श व्यंजन दिये गये हैं जो उच्चारण-स्थान की दृष्टि से क्रमशः पीछे की ओर से आगे की ओर आते हैं। प्रत्येक वर्ग में घोष और प्राण की दृष्टि से व्यंजनों का स्थान निर्धारित है। वर्गों के अन्त में वर्ग-नासिक्य का स्थान है। स्पर्श व्यंजनों के बाद अन्तःस्थ और ऊष्म आते हैं। इन्हें भी पीछे की ओर से क्रमशः आगे बढ़ने के क्रम से व्यवस्थित किया गया है। स्वरों में मूल स्वर अ (तथा दीर्घ रूप आ) के बाद आद्योपान्त ह्रस्व-दीर्घ के क्रम से अग्र-पश्च मूल-स्वर, फिर पीछे से आगे की ओर का क्रम अपनाते हुए शेष दो मूल स्वर ऋ, ऌ और अन्त में अग्र-पश्च द्विस्वर दिये गये हैं। ध्यान रहे कि यह वैज्ञानिकता देवनागरी लिपि की वैज्ञानिकता नहीं है, केवल उसके अक्षरों की क्रम-व्यवस्था की वैज्ञानिकता है।

अक्षरों तथा चिन्हों के संयोजन की प्रणाली में प्रायः जटिलता मिलती है; किन्तु अवैज्ञानिकता विशेष नहीं मिलती। ऊपर कहा जा चुका है कि अपने पूर्ववर्ती व्यंजन के बाद जुड़ने वाला वार्णिक उस व्यंजनाक्षर में मात्रा के रूप में जोड़ दिया जाता है। संयुक्त व्यंजन यदि सीधी रेखा में लिखे जाते हैं तो उसी क्रम से पढ़े जाते हैं जिस क्रम से वे लिखे गये हैं; यदि वे ऊपर-नीचे लिखे जाते हैं तो उन्हें पढ़ने के लिए क्रमशः ऊपर से नीचे उतरा जाता है। इस नियमितता के भीतर मिलने वाले विवरणों में असंगतियाँ मिलती हैं। सारे संयुक्त व्यंजनों के लिए आड़े और खड़े अक्षरों का विकल्प (क्क~क्‍क) नहीं है। कुछ में विकल्प हैं, कुछ में कोई एक ही रूप प्रचलित है। व्यंजनाक्षरों में से 'अ' का लोप करने के लिए विविध पद्धतियाँ हैं। एक विकल्प यह है कि अक्षर का उत्तरांश न लिखा जाय; परन्तु कुछ अक्षरों में (उदा० ङ, छ, ट, ठ, ड, ढ, द) यह विकल्प नहीं है। रेफ़ जिस अक्षर पर लगता है उससे निर्दिष्ट वर्ण के पहले उच्चरित होता है लेकिन अनुस्वार जिस अक्षर पर लगता है, उससे द्योतित वर्ण के बाद उच्चरित होता है यद्यपि रेफ़ और अनुस्वार दोनों शिरोरेखा के ऊपर लगनेवाले चिन्ह हैं। क्+ष, त्+र, ज्+ञ के लिए स्वतंत्र अक्षर हैं जबकि अन्य संयुक्त व्यंजनों के लिए नहीं हैं।

देवनागरी लिप्युक्ति स्वनिमाश्रित वर्णमाला है। लिपि का नियमित मूल्य ज्ञात हो जाने के बाद संस्कृत की वर्त्तनी पूर्णतः वैज्ञानिक होती है, उसमें यदृच्छा के लिए कोई गुंजाइश नहीं है। वर्त्तनी या तो उच्चारण पर आश्रित होती है या प्रसंगानुसार मर्षवैज्ञानिक गठन (उदा० कायिक, भावुक) पर। यह बात कहने का भी कोई कारण नहीं दिखता कि संस्कृत में मर्षवैज्ञानिक गठन पर आश्रित वर्त्तनी उच्चारण पर भी आश्रित नहीं थी।

अब यदि हमारे सामने यह प्रश्न उठाया जाय कि देवनागरी लिपि वैज्ञानिक है या नहीं तो हमें कोई भी उत्तर देने के पहले उपर्युक्त विवेचन के प्रकाश में प्रश्न के सारे आयामों को ठीक से समझ लेना चाहिए। जहाँ तक अक्षरों की आकृति के निर्धारण का सम्बन्ध है, उसके पीछे कोई 'वैज्ञानिकता' नहीं है, यदृच्छा है। आकृतियों में पर्याप्त भेद होना एक गुण है जो देवनागरी के बहुत से अक्षरों में विद्यमान है किन्तु कुछ में उसका अभाव भी है। जहाँ तक अक्षरों के क्रमबद्ध संकलन अथवा समग्र आक्षरिकी का संबन्ध है, वह पूर्णतः वैज्ञानिक है। एक ही ध्वन्यात्मक मूल्य के लिए एकाधिक अक्षरों या आकृतियों का अस्तित्व या तो मुक्त विभेद के नियमों से नियन्त्रित है या पूरक बटन के नियमों से। कुछ संयुक्त व्यंजनों के लिए यादृच्छिक रूप से अलग आकृतियाँ निर्धारित हैं: इन लक्षणों के कारण देवनागरी लिपि की पृष्ठभूमि में एकरूपता की कमी आ गई है; किन्तु यह अवैज्ञानिकता नहीं है।

इस अनुच्छेद में हमने किसी भाषा की चर्चा नहीं की है। लिप्युक्ति के रूप में देवनागरी की वैज्ञानिकता–अवैज्ञानिकता का प्रश्न संस्कृत के संदर्भ में उठाना ही देवनागरी के साथ न्याय करना है। मात्राओं और अक्षरों की आकृति का भेद वैज्ञानिक है, यह हम कह चुके हैं। देवनागरी लिप्युक्ति (संस्कृत के संदर्भ में) पूर्णतः वैज्ञानिक है, सरलता और एकरूपता का अभाव अलग बात है।

ध्यान रहे कि देवनागरी लिपि वैज्ञानिक है या नहीं, यह कहने के लिए हिन्दी भाषा से उदाहरण देने का हमें कोई अधिकार नहीं है। हिन्दी लिप्युक्ति में या हिन्दी वर्त्तनी में जो कुछ होता है, उससे देवनागरी की वैज्ञानिकता या अवैज्ञानिकता नहीं प्रमाणित होती। देवनागरी हिन्दी के लिए नहीं बनी थी। यदि हम हिन्दी में उसका प्रयोग करते हैं तो आवश्यकतानुसार हिन्दी के लिए उसका अनुकूलन करने का अधिकार हमें है। यदि हम अनुकूलन नहीं करते या नहीं कर पाते तो इससे देवनागरी लिपि अवैज्ञानिक नहीं हो जाती, न उसकी वैज्ञानिकता का कोई नया प्रमाण इससे मिलता है। देवनागरी लिपि न तो अखिल

भारतीय स्वनलिपि है†, न अन्तरराष्ट्रीय स्वनलिपि‡ इसलिए यदि वह अननुकूलित रूप में भारत की या संसार की सारी भाषाओं के लिए उपयोगी नहीं है तो यह उसकी अवैज्ञानिकता नहीं है और यदि वह उसी रूप में सारी भाषाओं अथवा किन्हीं भाषाओं के लिए उपयोगी है तो यह संयोग है, उसकी वैज्ञानिकता नहीं है। यदि हिन्दी के लिए या किन्हीं अन्य भाषाओं के लिए भी हम देवनागरी का अनुकूलन करते हैं तो यह देवनागरी लिपि का सुधार नहीं है। यदि अनुकूलित रूप में उसमें कमियाँ/त्रुटियाँ आती हैं तो दोष अनुकूलन का है, देवनागरी का नहीं। यदि हम यह कहें कि देवनागरी कुछ विशेष प्रकार के अनुकूलन के योग्य या अयोग्य है तो बात अलग है।

प्रत्येक भाषा अलग होती है, उसकी उपव्यवस्थाएँ अलग होती हैं, उसकी स्वनिमावली अलग होती है। फलत: लिप्युक्ति के धरातल पर प्रत्येक भाषा में एक ही लिपि का अनुकूलन अलग-अलग हो ही जाता है। संस्कृत के कवर्ग की कंठ्य ध्वनियाँ हिन्दी मे उत्कंठ्य हो गई हैं, चवर्ग की स्पर्श ध्वनियाँ हिन्दी में स्पर्षर्ष हो गई हैं, टवर्ग की मूर्धन्य ध्वनियाँ हिन्दी में पूर्वमूर्धन्य हो गई हैं। अक्षरों का प्रयोग वही चल रहा है। यह लिपि का अनायास और सहज अनुकूलन है। इस अनुकूलन से कोई अनौचित्य नहीं आया है, कोई अवैज्ञानिकता नहीं आई है। संस्कृत की जो ध्वनियाँ हिन्दी में अपनी स्थानापन्न नई ध्वनियाँ दिये बिना समाप्त हो गई हैं, उन्हें निर्दिष्ट करने वाले अक्षर हिन्दी देवनागरी से सहज ही निकाले जा सकते हैं। ऋ, ॠ, ऌ, ॡ व का उच्चारण आज नहीं होता (उच्चारण होता है रि, री, लि, ली श का), लिये अक्षर भले ही मिल जाते हैं। हिन्दी वर्त्तनी में इनकी उपस्थिति इस बात की सूचना देती है कि ये-ये शब्द संस्कृत के तत्सम शब्द हैं। यह ऐतिहासिक तथ्य इनकी उपस्थिति से ज्ञात होना इनका लाभ है, लेकिन हिन्दी लिप्युक्ति में इनकी उपस्थिति अवैज्ञानिक है। इन अक्षरों का यह संकुचित और नियमित प्रयोग लोगों के अवचेतन मे है; तभी अन्य स्रोतों से आदत्त शब्दों मे इन अक्षरों का प्रयोग कहीं नहीं दिखता। ब और ण की स्थिति अलग तरह की है और इनके प्रसंग में हिन्दी वर्त्तनी में विद्यार्थियों से जो भूलें होती हैं, वे इनकी स्थिति का परिचय देती हैं।

हिन्दी में जो नई ध्वनियाँ आ गई हैं, उनमें से कुछ सभी स्तरों में व्याप्त हो चुकी हैं, कुछ की व्याप्ति न्यूनाधिक रूप से अलग-अलग शैलियों

† आखिल भारतीय अनुकूलन के लिए देखिए :
केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय; समस्त भारतीय भाषाओं के लिए सामान्य लिपि परिवर्धित देवनागरी।

‡ अन्तरराष्ट्रीय अनुकूलन के एक प्रयास के लिए देखिए:
देवीशंकर द्विवेदी; भाषा और भाषिकी (द्वितीय संस्करण), पृ० ५३.

में मिलती है। अधिकांश नई ध्वनियों के लिए चिह्नित अक्षरों का प्रयोग व्यापक रूप से प्रचलित या ज्ञात है। इनमें ड़, ढ़, क़ ख़, ग़, ज़, फ़, ऑ उल्लेखनीय हैं। पहले तो यही तय हो कि हिन्दी के कितने स्वर मानक हैं। तब उनकी लिप्युक्तियों का निर्णय हो; इसके बाद इन अक्षरों को हिन्दी देवनागरी आक्षरिकी में स्थान दिया जाय और देखा जाय कि आक्षरिकी उतनी ही वैज्ञानिक व्यवस्था वाली रहती है या नहीं। नई ध्वनियों में ह्रस्व ए तथा ह्रस्व ओ के लिए लोकप्रिय अक्षर और मात्राएँ प्राप्त नहीं हैं। हिन्दी की बोलियों में इन ध्वनियों की बहुतायत है किन्तु देवनागरी का मूल्यांकन मानक (खड़ी बोली) हिन्दी के प्रसंग में किया जा रहा है। उसमें अधिकतर प्रसंगों में ये ध्वनियाँ सांस्वनिक हैं (उदा० देहली मेहरा, चेहरा, देहरादून, मेहरोत्रा, ओहदा शोहदा), इसलिए इनके निमित्त स्वतन्त्र अक्षरों की आवश्यकता नहीं है। यदि मानक हिन्दी के किसी स्वरूप में इनका स्वानिमिक मूल्य निश्चित हो जाता है तो इनके लिए नए अक्षरों व मात्राओं की आवश्यकता पड़ेगी। ह्रस्व ऐ ध्वनि भी सांस्वनिक है (उदा० मेहरा, कह, कहना, कहकहा)। अत: उसके लिए भी अलग अक्षर की आवश्यकता नहीं है।

क्ष और ज्ञ के उच्चारण में हिन्दी में भेद आ गया है। इन्हें क्ष~क्ख तथा ज्ञ~ज्ञ के रूप में बोला जाता है जिन्हें उच्चरित रूप में ही लिखने की शक्ति हिन्दी देवनागरी में है। इन अक्षरों की उपस्थिति भी संबंधित शब्दों पर संस्कृत तत्सम स्रोत का ठप्पा लगाने का काम करती है।

ऐ तथा औ के तीन-तीन उच्चारण मिलते हैं :—१. मूल स्वरों के रूप में, २. ए तथा ओ में समाप्त होने वाले द्विस्वरों के रूप में, ३. इ तथा उ में समाप्त होने वाले द्विस्वरों के रूप में। लेकिन ये तीनों रूप हिन्दी में सांस्वनिक ही रहते हैं, पृथक्-पृथक् अक्षरों की अर्हता नहीं प्राप्त कर पाते।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन का जो सुझाव काका कालेलकर ने पूरी निष्ठा के साथ अपनाया और उनके प्रयास से जिसका कुछ प्रचलन भी हुआ, वह है आक्षरिकी में इ, ई, उ, ऊ के लिए ि, ी, ु, ू का प्रयोग। यदि अ के साथ आ का प्रयोग उचित है तो कम से कम हिन्दी में ये परिवर्तित आकृतियाँ भी उचित हैं (क्योंकि यह सिद्ध हो चुका है कि इन युग्मों की भाँति अ-आ में गुण-भेद अनिवार्य है, मात्रा-भेद कभी-कभी नहीं भी होता)। इसके अतिरिक्त यदि 'ओ' की आकृति 'अ' अक्षर पर आश्रित हो सकती है तो 'ए' की आकृति भी उस पर आश्रित क्यों नहीं हो सकती! इस परिवर्तन से एकरूपता आ जाती है यद्यपि वैज्ञानिकता' न घटती है, न बढ़ती है।

देवनागरी में जो परिवर्तन समय-समय पर सुझाये गये हैं, उनका ब्यौरा देना यहाँ अभीष्ट नहीं है। सुझावों में 'सुधार' की दृष्टि और 'अनुकूलन' की दृष्टि अलग-अलग लक्षित होती है। परिवर्तन जब अधिक सुझा दिये गये, तब उन्हें वापस भी कर लिया गया। विद्वत्समितियों के निर्णयों का गुण-दोष-विचार भी यहाँ अभीष्ट नहीं है। उपर्युक्त विवेचन के प्रकाश में उनका विश्लेषण किया जा सकता है और उनकी व्याप्ति व दिशा का भली प्रकार समझा जा सकता है। सुझाव सामान्यत: ३ प्रकार के हैं :—

(१) नये अक्षर व चिह्न देकर नई ध्वनियों के निर्देश के लिए,

(२) विद्यमान अक्षरों में हेर-फेर करके भ्रामकता कम करने के लिए,

(३) विकल्प कम करके एकरूपता व सरलता लाने के लिए।

सुझावों ने न्यूनाधिक अंशों में उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति भी की है। लेकिन कोई सिद्धांत लेकर उसका आद्योपान्त पालन नहीं किया गया है, परम्परा और व्यावहारिकता के साथ पर्याप्त समझौता किया गया है।

हिन्दी वर्त्तनी के कुछ उदाहरण देकर भी देवनागरी की वैज्ञानिकता-अवैज्ञानिकता की परीक्षा की जाती है जो स्पष्टत: ग़लत है। लिपि और वर्त्तनी भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। वर्त्तनी की अवैज्ञानिकता लिपि की अवैज्ञानिकता नहीं है। हिन्दी वर्त्तनी में हम प्राय: वही नियम चलाते जा रहे हैं जो संस्कृत वर्त्तनी में थे यद्यपि भाषा का आधार बदल गया है। लिपि का आधार अब भी वही स्वनिमात्मक-वर्णमूलक है यद्यपि वर्णों के आप्त रूप बदल गये हैं। संस्कृत में व्यंजनान्त (=हलन्त) वर्ण कम थे, इसलिए हलन्त-चिन्ह की आवश्यकता कम पड़ती थी। हिन्दी में व्यंजनान्त वर्ण अधिक हैं, इसलिए बहुत-से स्थानों पर हलन्त-चिन्ह की आवश्यकता हो गई है। लेकिन 'अ' का अभाव या लोप कुछ निश्चित शब्द-स्थानों पर होता है, इसलिए वह पूर्वानुमेय है। फलत: वर्त्तनी में हलन्त न लगाने से भी काम चल सकता है; अक्षर के ध्वन्यात्मक मूल्य के लिए उसकी शब्द-स्थिति के अनुसार एक सर्वस्वानिमिक नियम स्थिर कर देना पर्याप्त होगा। इस दृष्टि से जगत्, महान्, वरन्-सदृश शब्दों में हलन्त न लगाना अनुचित नहीं है। कुछ स्थानों पर 'अ' का लोप वैकल्पिक होता है (उदा० झलकियाँ~झलकियाँ, ग़लतियाँ~ग़लतियाँ) जिनके लिए सर्वस्वानिमिक नियम देकर हलन्त-चिन्ह न लगाने की कमी पूरी की जा सकती है। लेकिन कुछ स्थलों पर हमें एक ही उच्चरित विकल्प अभीष्ट होता है, अन्य विकल्प अभीष्ट नहीं होते। ऐसी स्थितियों के लिए वर्त्तनी में कुछ संशोधन की आवश्यकता है, चाहे हलन्त-चिन्ह की सहायता ली जाय चाहे

त्रिवृति-चिन्ह की। उदाहरणार्थ, जो लोग 'ग्रामदनी' का 'ग्रामद्नी' उच्चारण चाहते हैं ('ग्राम्दनी' नहीं चाहते), वे 'रामधनी' का उच्चारण 'रामध्नी' नहीं चाहते ('राम्धनी' चाहते हैं) लेकिन 'अ' के लोप का स्थल-भेद दिखाने के लिए इन शब्दों में कोई तत्त्व नहीं हैं। यदि 'मिलनसार' और 'कमनसीब' का उच्चारण कोई 'मिल्नसार' तथा 'कमन्सीब' नहीं करता तो यह उनके शब्द-ज्ञान के कारण है या संयोग के कारण, वर्त्तनी की वैज्ञानिकता के कारण नहीं है। यदि हम कोई कल्पित शब्द लें और उसका उच्चारण भिन्न-भिन्न लोगों से करवाएँ तो शब्द-ज्ञान का सहारा न होने के कारण उच्चारण की भिन्नताएँ देखते ही बनेंगी। उदाहरणार्थ, यदि हम यह मान लें कि हिन्दी में एक शब्द 'भाटकमकरा' है तो इसके निम्नलिखित भिन्न-भिन्न उच्चारण मिलने की सम्भावना है :—

१. भाटक्मक्रा

२. भाटकम्करा

३. भाट्कम्करा

४. भाट्कमक्रा

किन्तु वर्त्तनी की अवैज्ञानिकता लिपि की अवैज्ञानिकता नहीं है।

देवनागरी : एक पुनर्दृष्टि

कुछ लोग दावा करते हैं कि देवनागरी संसार की सबसे अधिक वैज्ञानिक लिपि है। प्रामाणिकता के साथ ऐसा दावा हमें तभी करना चाहिए जब हम निर्भ्रान्त रूप से यह समझ लें कि किसी लिपि की वैज्ञानिकता' से क्या अभिप्राय होता है, संसार की सारी लिपियाँ सीखकर उनका सम्यक् विश्लेषण कर लें और 'वैज्ञानिकता' के मानदंड पर उन्हें क्रमबद्ध कर दें। निश्चित बात है कि उक्त दावा करने वाले यह सब नहीं करते। वे कई बार सरलता, सुन्दरता, नैर्मिकता तथा उपयोगिता को वैज्ञानिकता के पर्याय के रूप में ग्रहण कर लेते हैं। संसार की सारी लिपियाँ भी वे नहीं सीखते, न उनका सम्यक विश्लेषण करते हैं।

कुछ लोग देवनागरी में दोष निकालते हैं और कहते हैं कि उसमें अवैज्ञानिकता भी है। अवैज्ञानिकता के प्रमाण के तौर पर ऐसे लोग 'अ' स्वर की मात्रा के अभाव की ओर संकेत करते हैं : कहते हैं कि कोई मात्राएँ ऊपर, कोई नीचे, कोई दाएँ तो कोई बाएँ लगाई जाती हैं जबकि उच्चारण की दृष्टि से उन्हें संबंधित व्यंजन के बाद ही होना चाहिए ; हिन्दी के कुछ शब्दों का उदाहरण देकर कहते हैं कि देवनागरी में लिखे हुए ये शब्द जैसे लिखे जाते हैं, वैसे ही पढ़े नहीं जाते। ऐसी चर्चाओं से भी यही सिद्ध होता है कि इन लोगों की दृष्टि में वैज्ञानिकता और अवैज्ञानिकता का स्पष्ट भेद ही नहीं आ पाता है। ये लोग 'लिपि' के अंतर्गत समाविष्ट कर दी जाने वाली कई भिन्न-भिन्न अवधारणाओं का अंतर भी आत्मसात् नहीं कर पाते हैं।

इस पृष्ठभूमि में मैंने सन् १९७५ में एक लेख लिखा था—'देवनागरी और हिन्दी'। मेरा आधारभूत उपगम यह था कि कोई लिपि जिस उद्देश्य के लिए बनाई जाती है, उसी उद्देश्य के परिप्रेक्ष्य में उसकी 'वैज्ञानिकता' की परीक्षा की जा सकती है। उदाहरणार्थ, यदि देवनागरी मूलतः मुद्रण या टंकण के लिए नहीं बनाई गई थी तो आज मुद्रणालय या टंकण यंत्र का हवाला देकर उसकी वैज्ञानिकता-अवैज्ञानिकता की परीक्षा करना असंगत है। यदि वह मूलतः संस्कृत-लेखन के लिए थी तो हिन्दी-लेखन या अरबी-लेखन आदि की कसौटी पर उसकी 'वैज्ञानिकता' नहीं कसी जा सकती। हिन्दी की वर्तनी के उदाहरण देवनागरी 'लिपि' की वैज्ञानिकता-अवैज्ञानिकता के उदाहरण नहीं दे सकते। हिन्दी में यदि ऐसी ध्वनियाँ आ गई हैं जिनका संस्कृत में अभाव था तो उनके

लिए देवनागरी में लिपि-चिह्नों का अभाव होना अवैज्ञानिक नहीं, वैज्ञानिक है। संस्कृत की जो ध्वनियाँ हिन्दी में नहीं पाई जातीं, उनके लिए देवनागरी में लिपि-चिह्नों की उपस्थिति उसकी वैज्ञानिकता का प्रमाण है। यदि देवनागरी 'भाषा' की मूलभूत 'औच्चारिक इकाई' ('ध्वनि' नहीं) को आधार बनाकर चली है तो उसकी वैज्ञानिकता की परीक्षा उसी आधार पर की जानी चाहिए।

उक्त लेख मैंने हरियाणा के भाषा-विभाग द्वारा आयोजित १९७६-७७ की वार्षिक लेखक-गोष्ठी में पढ़ा। लेख महत्त्वपूर्ण था, इसलिए मैंने उसे केंद्रीय हिंदी निदेशालय के त्रैमासिक मुख-पत्र 'भाषा' में प्रकाशनार्थ भेजा जिसमें वह सितम्बर १९७७ के अंक में प्रकाशित हुआ। उसी वर्ष वह हरियाणा के भाषा-विभाग द्वारा उक्त गोष्ठी में पढ़े गये शोध-पत्रों के संकलन में प्रकाशित हुआ। रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव ने तृतीय विश्व हिन्दी सम्मेलन के अवसर पर प्रकाश्य स्मारिका के लिए कोई लेख माँगा तो उक्त लेख की महत्त्वपूर्ण उद्भावनाओं के कारण मैंने उसके कुछ मुख्य अंश उन्हें भेजे जो 'विश्व हिन्दी' में १९८३ में 'देवनागरी' शीर्षक से प्रकाशित हुए। भोलानाथ तिवारी ने 'हिन्दी भाषा की लिपि-संरचना' में संकलित करने के लिए 'भाषा' में प्रकाशित उक्त लेख माँगा और १९८८ में उसे प्रकाशित किया।

इन कुछ वर्षों में हिन्दी के (बल्कि भारत के) शोध-जगत् से मुझे बड़ी निराशा हुई। भाषिकी के छात्र, शोध-छात्र और अध्यापक यह कहते तो नहीं थकते कि सस्यूर ने 'सिनक्रॉनिक' और 'डायक्रॉनिक' का अन्तर बताया और इन अवधारणाओं का स्वरूप यह है; लेकिन हमारे देश में कौन-सी अवधारणाएँ स्थापित तथा स्पष्ट की गई हैं, इसे जानने का समय और समझने की क्षमता उनके पास नहीं है। भाग्यशाली थे सस्यूर जो विदेश में जन्मे थे; इसलिए उन्होंने कुछ भी नहीं लिखा तो भी उनके छात्रों ने कक्षा में दिए गए उनके व्याख्यानों के लिए हुए अपने टिप्पण संपादित और संकलित करके अपने गुरु के नाम से प्रकाशित करा दिये और विदेशी विद्वानों ने सस्यूर की प्रतिभा का लोहा मानने में अपना गौरव माना। भारतीय छात्र और भारतीय गुरु क्या करते, इसका अनुमान समय-समय पर प्रकाशित होने वाली अनेक घटनाओं से होता रहता है। यह भी समझ में आया कि सन् १९६४ में प्रकाशित मेरी एक प्रारंभिक पुस्तक को देखकर सुनीतिकुमार चटर्जी-सरीखे विश्वविश्रुत विद्वान् ने यह क्यों लिखा था कि एक "भारतीय विद्वान्" में इतनी अधिक बौद्धिक ईमानदारी और विचारशीलता पाना उनके लिए 'अत्यधिक हर्ष" का विषय है। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी शोध-जगत् की स्थिति 'दयनीय' बताई थी।

मैंने अपने उक्त लेख में कहा था कि जो बातें 'लिपि' के मत्थे मढ़ दी जाती हैं, वे चार भिन्न-भिन्न अवधारणाओं के जिम्मे जानी चाहिए—भाषिकी

या ककहरा, लिपि, लिप्युक्ति तथा वर्तनी। इनमें से प्रत्येक परवर्ती अवधारणा में पूर्ववर्ती अवधारणा का समावेश रहता है, लेकिन पूर्ववर्ती अवधारणाओं में परवर्ती अवधारणाओं का समावेश नहीं होता। मैंने नहीं देखा कि इस बिन्दु को लोगों ने आत्मसात् किया या करवाया हो, चाहे खंडन के लिए चाहे मंडन के लिए। यह अवश्य देखा कि एक पुस्तक में एक आचार्य ने लिखा : "देवीशंकर द्विवेदी का कहना है कि (अमुक) ··होता है। मैं पूछता हूँ कि (तमुक) क्यों नहीं हो सकता।" अब 'होता है' तथा 'हो सकता है' में क्या अन्तर है, यह बात एक आचार्य को भी सिखाए जाने की आवश्यकता है। एक शोध-प्रबन्ध मेरे पास परीक्षणार्थ आया जिसमें लिखा था : "देवीशंकर द्विवेदी ने 'विनयशीलता' में ये तत्व बताए हैं। यह बात भ्रामक है। अँगरेज़ी शब्द 'पोलाइटनेस' में अवश्य ही ये तत्व मिलते हैं।" चूँकि उल्लेख मेरा था, इसलिए मुझे प्रामाणिक तौर पर पता है कि मेरा उल्लिखित लेख अँगरेज़ी में था जिसका शीर्षक था 'पोलाइटनेस हायरार्की इन हिन्दी।' इसे मैंने उस्मानिया विश्व-विद्यालय की एक संगोष्ठी में पढ़ा था और इंग्लैंड के एडिनबरा विश्वविद्यालय ने बाद में इसे प्रकाशित किया था। मैंने हिन्दी में इसका अनुवाद न किया, न करवाया; इसलिए अपने 'पोलाइटनेस' शब्द के लिए मैंने 'विनयशीलता' या किसी भी अन्य हिन्दी शब्द का प्रयोग नहीं किया। उक्त शोधकर्ता ने अपनी ओर से मेरे अँगरेज़ी शब्द का हिन्दी अनुवाद किया, अनुवाद की त्रुटियाँ खोजीं और फिर त्रुटियों सहित उक्त अनुवाद मेरे नाम पर मढ़ दिया, अँगरेज़ी का मेरा त्रुटिहीन शब्द चुपचाप अपने नाम कर लिया। उनके इस समसामयिक धर्म के साहसिक निर्वाह पर उन्हें शोधोपाधि न देना उनके साथ अन्याय होता और मैंने अन्याय नहीं किया; लेकिन मुझे भी यह ज्ञान-लाभ हुआ कि शोध-जगत् में कौन-सी प्रवृत्ति कितने धड़ल्ले से चल रही है।

'देवनागरी और हिंदी' शीर्षक उपर्युक्त लेख में मैंने यह भी प्रतिपादित किया था कि देवनागरी में स्वरों और उनकी मात्राओं के लिए (रोमन के विपरीत) अलग-अलग चिह्न होना 'वैज्ञानिक' है तथा मात्राओं का ऊपर-नीचे, दाएँ-बाएँ लगना भी अवैज्ञानिक नहीं है। जहाँ तक मेरी जानकारी है, यह बात मुझसे पहले किसी ने नहीं कही थी। देशी-विदेशी विद्वानों ने तो देवनागरी की आलोचना इस आधार पर की ही थी, एक समूचे आयोग ने 'छोटी इ' की मात्रा दाईं ओर लगाना आरम्भ करवा दिया था, कुछ पुस्तकें तक छप गई थीं। ऐसी स्थिति में देवनागरी मात्रा-विधान की वैज्ञानिकता प्रमाणित करना एक महत्वपूर्ण बात थी। (यदि किसी ने मुझसे पहले इसे प्रमाणित किया हो तो पाठक कृपया मुझे सूचित करने का उपकार करें ताकि मैं आगे के प्रकाशनों में उसका उल्लेख कर सकूँ।) भोलानाथ तिवारी द्वारा

संपादित उपर्युक्त संकलन में मैंने जब रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव का भी एक लेख देखा : 'देवनागरी के पक्ष में उसकी मात्रा-व्यवस्था का अनुशीलन' तो मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव जब पहले पहल भाषिकी के व्याख्याता-पद पर नियुक्त हुए थे, तभी मुझे होनहार और उत्साही जान पड़े थे। इसके बाद मेरी यही धारणा बनती रही है कि वे परिश्रमी हैं, विषय को समझते हैं और अच्छी तरह अभिव्यक्ति देते हैं। मुझे लगा कि चूँकि मेरे लेख को उन्होंने पढ़ रखा है, उसकी महत्वपूर्ण स्थापना को उन्होंने समझा होगा, इस लिए उन्होंने १०–१२ वर्षों के अन्तराल में उस पर अपने भी सुचिन्तित विचार निर्मित किये होंगे और उन्हें इस लेख में दिया होगा। मुझे यह देखने की उत्सुकता भी हुई कि क्या उन्होंने कहीं मुझसे मतभेद प्रकट किया है। मुझे यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि उनकी मूल स्थापनाएँ तो वही हैं जो मेरी हैं और इनमें कहीं भी मुझसे कोई मतभेद नहीं व्यक्त किया गया है, लेकिन न मेरे मत का कहीं कोई उल्लेख है, न मेरे लेख का। मैं न उनके लेख में कहीं हूँ, न संदर्भ-सूची में। विडम्बना यह है कि शोध-पत्र का परंपरागत प्रारूप देने के लिए उसमें तमाम उद्धरण जुटाये गये हैं और संदर्भ-सूची भी छोटी नहीं है। मुझे शंका हुई कि यह कहीं मुझसे पहले का लेख तो नहीं है। कहा गया है कि मूल लेख अँगरेज़ी में था, उसका हिन्दी अनुवाद दिलीप सिंह ने किया है जो संकलन में प्रकाशित है। पता लगाने पर ज्ञात हुआ कि सन् १९८८ में ही पहली बार इसका प्रकाशन हो रहा है।* मुझसे पहले इसके लिखे जाने की संभावना इसलिए भी नहीं है क्योंकि तब मेरा लेख श्रीवास्तव के लेख की प्रतिच्छाया होता और श्रीवास्तव का लेख पढ़े बिना ऐसा कैसे संभव हो पाता! अब मेरे मन में प्रश्न उठा कि श्रीवास्तव मेरी बातों को मेरे नाम से दे देते तो क्या बिगड़ जाता। उन्होंने कुछ दृश्य प्रतीक बनाये हैं जो मैंने नहीं बनाये। पूर्ववर्ती विद्वानों का मत देकर उसका खंडन-मंडन या परिष्कार-अपरिष्कार करने में परवर्ती विद्वानों की हेठी तो होती नहीं। श्रीवास्तव कह सकते थे कि उन्होंने भी कुछ ऐसा ही किया है। फिर मुझे इस प्रश्न का उत्तर स्वतः मिल गया। श्रीवास्तव यदि यह कहते कि 'अब तक देशी-विदेशी विद्वान् जो आपत्तियाँ करते रहे हैं, उन सबका सही निराकरण देवीशंकर द्विवेदी ने कर दिया है और मैंने इस पर कुछ दृश्य प्रतीक बनाये हैं।' तो उनका शोध-कार्य क्या रह जाता! श्रेय के लिए तो 'कर्त्ता' का नाम हटा देना ही आवश्यक था। दृश्य प्रतीक मैंने नहीं दिए थे, लेकिन उनके संदर्भ में श्रीवास्तव की मौलिकता का प्रमाण-पत्र मैं नहीं दे सकता।

---

* मूल अँगरेज़ी लेख के सन् १९८४ में 'कैल्टिस' (पुणे) में 'इन डिफ़ेन्स ऑव देवनागरी—अ केस स्डटी ऑव मात्राज़' शीर्षक से प्रकाशित होने की सूचना है।

मुझे सहसा याद आई रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव के एक लेख की समीक्षा जो अशोक कालरा ने की थी और जिसका प्रकाशन 'अनुवाद' के जुलाई-सितम्बर १९८५ के अंक में हुआ था। कालरा ने लिखा था कि श्रीवास्तव ने अपने समीक्षित लेख में अमुक दो आरेख विलियम हास के अमुक लेख से लिये हैं लेकिन लेख में इसकी कोई चर्चा नहीं है और आरेखों की व्याख्या में त्रुटि हो गई है, अमुक तालिका हैलिडे आदि की अमुक पुस्तक के अमुक पृष्ठ से ले ली गई है और उस पुस्तक का भी नामोल्लेख नहीं किया गया है तथा अमुक पृष्ठ कैटफ़ोर्ड की अमुक पुस्तक के अमुक पृष्ठों के "लगभग शब्दश: अनुवाद" हैं (यद्यपि अनुवाद में त्रुटि हो गई है) लेकिन कैटफ़ोर्ड का नाम लेख या संदर्भ-सूची में कहीं नहीं है। कालरा ने ऐसे साहित्य की वांछनीयता का समर्थन किया था "जिससे पाठक को स्पष्ट रूप से पता चल सके कि कौन-से विचार लेखक के अपने हैं और कौन-से अन्य स्रोतों से लिये गये हैं।" उन्होंने "लेखक की ईमानदारी" का प्रश्न उठाया था।

मुझे हास, हैलिडे और कैटफ़ोर्ड के साथ इस रूप में ही जुड़ना बुरा नहीं लगा लेकिन मेरे सामने प्रश्न यह आया कि श्रीवास्तव ने मुझे समझने में जो भूलें की हैं, उनका निर्देश मैं कैसे करूँ। वे भाषिकी के क्षेत्र में मुझसे कनिष्ठ हैं, मुझे समझने में उनसे जो भूल हो—उसका निर्देश करना मेरा कर्त्तव्य है, लेकिन इसके लिए यह तो कहना ही पड़ेगा कि अमुक बातें मैंने कही थीं (यह श्रीवास्तव नहीं चाहते) और मेरा वास्तविक अभिप्राय यह था। कुछ ऊहापोह के बाद मैं यह लेख लिख रहा हूँ और यह मानकर चल रहा हूँ कि श्रीवास्तव ने जिस तथ्य का उल्लेख अपने लेख या संदर्भ-सूची में नहीं किया है और जिसका उल्लेख उन्हें करना चाहिए था (नैतिकता ही नहीं, मुझ-जैसों के व्यावहारिक धर्म-संकट की दृष्टि से भी), उसका उल्लेख उन्होंने किया है। भूलें हो ही जाती हैं: श्रीवास्तव के इसी लेख में एडवर्ड और डफ़ का नामोल्लेख आया है, लेकिन संदर्भ-सूची में वह नहीं है। मेरा नाम दोनों स्थानों से हट गया होगा क्योंकि पूरा लेख ही मेरे लेख के प्रकाश में है और कालरा की खोज से पता चलता है कि जिसका प्रभाव श्रीवास्तव पर अधिक होता है, उसका नाम उनके लेखों में सभी स्थानों पर लुप्त हो जाता है।

श्रीवास्तव का लेख कुछ हड़बड़ी में लिखा गया जान पड़ता है जैसे कि इधर-उधर से संदर्भ जुटा लेने के बाद इसे अविलम्ब लिखकर कहीं छपा देने का चाव रहा हो। शोध-पत्रों का परंपरागत प्रारूप तो इसे दे दिया गया है (विद्वानों के प्रश्न उठाये हैं, फिर सैद्धांतिक चर्चा की है, फिर मूल कथ्य दिया है, फिर कथ्य प्रतीक दिये हैं, फिर विद्वानों के प्रश्नों के उत्तर के रूप में उपपत्तियाँ दी हैं और तब संदर्भ-सूची दी है) जो शोध-छात्रों के लिए अनिवार्य और मूर्द्धन्य

विद्वानों के लिए ऐच्छिक है; लेकिन लेख में असंतुलन आ गया है और सामग्री में तराश की कमी है। मेरा लेख तो प्रारंभ में बताई गई पृष्ठभूमि में लिखा गया था, इसलिए उस पृष्ठभूमि के संदर्भ में सुसम्बद्ध और सुसंगत है; उसका फलक भी व्यापक है। श्रीवास्तव को शायद मात्रा-विषयक मेरा अनुशीलन बहुत अच्छा और प्रभावशाली लगा, इसलिए उन्होंने उसे अपने लेख का साध्य और शीर्षक बना लिया, लेकिन शोध-समस्या के निर्धारण में जो उद्धरण उन्होंने आरंभ में दिये हैं, वे इससे परे भी जाते हैं और लेख के जिस मुख्य साध्य के लिए उन्होंने बाद में एक दृश्य प्रतीक बनाया है, उसका तो केवल एक व्यक्ति के उद्धरण में आंशिक उल्लेख मात्र है। लेख का अन्त जिन उपपत्तियों के साथ होता है, उनके कई वक्तव्य लेख के मुख्य साध्य से असम्बद्ध हैं। ऐसे वक्तव्य मेरे लेख में भी हैं, लेकिन मेरे लेख का मुख्य साध्य (जैसा कि उसके शीर्षक से स्पष्ट है) कुछ और था। उनके लेख का आधे से अधिक भाग 'देवनागरी की मात्रा-व्यवस्था' से संबद्ध नहीं है, यद्यपि शीर्षक यही दिया गया है।

विस्तृत चर्चा करने के पहले यहाँ एक बात कह देना आवश्यक है। संस्कृत में उपलब्ध साहित्य में 'सिलेबिल' के लिए 'वर्ण' और 'अक्षर' दोनों शब्दों का प्रयोग मिलता है। हिन्दी सुशिक्षित समाज 'वार्णिक छन्द' में 'वर्ण' शब्द का प्रयोग उसी अर्थ में कर रहा है; किन्तु 'वर्ण' शब्द का प्रयोग 'लेटर' के लिए भी पाया जाता है। भाषिकों में 'सिलेबिल' के लिए 'अक्षर' शब्द का प्रयोग बहुतायत से होता है और 'लेटर' के लिए 'वर्ण' का। 'वर्णमाला' देवनागरी के सन्दर्भ में प्रयुक्त शब्द रहा है और देवनागरी के स्वर और व्यंजन-चिह्न 'सिलेबिल' हैं, इसलिए इसमें भी 'वर्ण' शब्द का प्रयोग 'सिलेबिल' के लिए है, लेकिन 'वर्णमाला' शब्द को 'अल्फ़ाबेट' के लिए प्रयुक्त मान लें तो 'वर्ण' शब्द 'लेटर' का अर्थ भी दे सकता है। इस प्रकार इस शब्द में तो 'वर्ण' उभयार्थी बन सकता है, लेकिन 'वर्ण-वृत्त' या 'वार्णिक छन्द' में 'वर्ण' शब्द 'सिलेबिल' के लिए ही आया है। दूसरी ओर, 'अक्षर' शब्द का प्रयोग सामान्य जन के बीच 'लेटर' के लिए व्यापक रूप से मिलता है। देवनागरी लिपि हो या रोमन या फ़ारसी, सामान्य जन के प्रयोग में बच्चों को 'अक्षर'-ज्ञान कराया जाता है और किसी अनपढ़ को एक 'अक्षर' भी लिखना-पढ़ना नहीं आता। बहुसंख्यक जनता के प्रयोग के अनुकूल ही मैं 'सिलेबिल' के लिए 'वर्ण' का और 'लेटर' के लिए 'अक्षर' शब्द का प्रयोग करता रहा हूँ। यही मैंने उपर्युक्त लेख में किया है। भाषिकों की उपर्युक्त प्रवृत्ति का अनुसरण करते हुए श्रीवास्तव के उपर्युक्त लेख में मेरे प्रयोग से ठीक उलटा प्रयोग मिलता है; केवल एक स्थान पर फ़र्थ को उद्धृत करते हुए उन्होंने मेरी तरह 'लेटर' के लिए 'अक्षर' शब्द का प्रयोग किया है। संभव है, यह स्खलन मेरे लेख के प्रभाव से अनवधानवश हो गया हो। 'लेखिम' तथा 'वर्णिम' शब्दों का प्रयोग उन्होंने एक ही अर्थ में किया है।

INSTITUTE OF ADVANCED

देवनागरी की स्वर-प्रस्तुति के संबंध में श्रीवास्तव ने विद्वानों के जिन आलोचनात्मक मतों का उल्लेख किया है, उनका अधिकांश समाधान मेरी उपर्युक्त टिप्पणियों से ही हो जाता है। उदाहरणार्थ, टर्नर के उद्धृत मत में से 'मूल दोष' शब्द हटाकर 'एक अभिलक्षण' शब्द स्थापित कर दिये जायँ तो उनका सम्पूर्ण वक्तव्य शुद्ध है। इसी प्रकार सुनीतिकुमार चटर्जी के जिस मत में श्रीवास्तव ने 'आलोचना' बताई है, उसमें 'आलोचना' तो कोई नहीं है; एक तथ्य का उल्लेख है जिसे अपने लेख में मैंने भी स्वीकार किया है और श्रीवास्तव ने भी उसे व्यक्त किया है। 'अमितव्ययी' और 'बोझिल' विशेषणों का प्रयोग भी समीचीन है; जैसा कि मैंने अपने लेख में कहा है—'अवैज्ञानिक' विशेषण का प्रयोग अनुचित होता। स्वर-प्रतीकों एवं व्यंजन-गुच्छों की संबद्धता में अवैज्ञानिकता एवं प्रकृतिगत विषमता का आरोप कई विद्वानों ने लगाया है, यह उल्लेख श्रीवास्तव ने किया है; लेकिन आरोप लगाने वाले एक भी विद्वान् का नाम नहीं बताया है। चूँकि विषय का यह अंग उनके लेख का मुख्य विवेच्य है, इसलिए यहाँ नाम गिनाना अधिक आवश्यक था। शायद हड़बड़ी में वे इस ओर प्रयत्नशील नहीं हो पाये।

सैद्धांतिक चर्चा का उनका प्रारंभिक वाक्य है: "पहले यह अनिवार्य एवं उपयोगी लगता है कि लेखन-व्यवस्थाओं के विकास तथा वाक्, लेखन एवं भाषा के सह-संबंधों पर एक दृष्टि डाली जाय।" वास्तविकता यह है कि इन दोनों बातों में से कोई भी 'अनिवार्य' नहीं है। जिसे उन्होंने "लेखन-व्यवस्थाओं का विकास" कहा है, उसकी चर्चा 'उपयोगी' अवश्य है। यह उपयोगिता इस बात में है कि हम देवनागरी का मूल्यांकन विभिन्न प्रकार की लेखन-व्यवस्थाओं में एक निश्चित बिन्दु पर स्थापित करके तुलनात्मक आधार पर यथार्थमूलक दृष्टि से कर सकते हैं। लेकिन जैसा कि मेरे इस वक्तव्य से स्पष्ट है, तुलना के उद्देश्य से प्रेरित होने के कारण यह चर्चा सैद्धांतिक धरातल पर 'उपयोगी' है, ऐतिहासिक धरातल पर नहीं। इसीलिए मैंने 'अर्थद्योतक इकाइयों (से लेकर) स्वनतत्वों तक' की लेखन-व्यवस्थाओं का जो निर्देश किया है, वह सैद्धांतिक है, ऐतिहासिक नहीं। श्रीवास्तव ने "अर्थसूचक लिपि (से लेकर) फ़ोनोग्राफ़ी तक" की लेखन-व्यवस्थाओं का निर्देश किया है, लेकिन उसे "लेखन-व्यवस्था का इतिहास" बताया है। यह सही है कि बहुत अंशों तक यह क्रम ऐतिहासिक विकास का भी है (यद्यपि हमारे सन्दर्भ में उतना उपयोगी नहीं है); लेकिन उनका यह कहना ग़लत है कि "लेखन-व्यवस्था के इतिहास में कोई अन्य अनुक्रम नहीं मिलता।" आगे चलकर तो उन्होंने इस विकास-क्रम में एक "आन्दोलन" का उल्लेख भी किया है। वास्तविकता यह है कि लेखन-व्यवस्थाओं के कालक्रमिक प्रकार-संक्रमण में काल-रेखाएँ किसी बिन्दु पर

विभाजक नहीं हैं। किसी 'आन्दोलन' का तो कहीं कोई संकेत ही नहीं है। प्रयत्न-लाघव की मनुष्य की सहज प्रवृत्ति ने लेखन में भी क्रमशः परिवर्तन किये हैं जो मुख्य रूप से (जैसा कि मेरी तरह श्रीवास्तव ने भी कहा है) संख्या कम करने के क्षेत्र में केन्द्रित रहे हैं। भाषा की इकाइयों से अन्विति, अनुप्रयोगी आवश्यकताओं, विकास के अवशेषों आदि तथ्यों ने इस सामान्य नियम में कुछ हेर-फेर भी किये हैं और केन्द्रित होने के लिए अन्य क्षेत्र भी चुने हैं। आजकल अवश्य ही 'आन्दोलनों' का युग है। कभी आन्दोलन चलता है कि देवनागरी त्यागकर रोमन अपना ली जाय, कभी आन्दोलन चलता है कि मात्राओं का स्थान इधर-उधर किया जाय, कभी आन्दोलन चलता है कि कुछ अक्षर छोड़े और जोड़े जायँ। इन आन्दोलनों के उत्तर में कभी-कभी आयोग बनाये जाते हैं। उनकी अनुशंसाएँ कुछ अपनाई जाती हैं, कुछ पड़ी रहती हैं। प्रत्यान्दोलन भी चलते हैं। लिपि-व्यवस्था का विकास प्रयत्न-लाघव, आवश्यकता और उपयोगिता के समन्वित स्वरूप की प्रेरणा से प्रेरित होता है। जो "ऐतिहासिक अनुक्रम" श्रीवास्तव ने निरपवाद बताया है, उसका खंडन करने वाला एक नया तत्व 'आशुलिपि' ने ही प्रस्तुत कर दिया है जिसका विकास उपर्युक्त तत्वों ने स्वन-लिपियों के निर्माण के बहुत बाद किया है।

वाक्, लेखन एवं भाषा के सह-संबंधों पर जिस प्रकार की दृष्टि श्रीवास्तव ने डाली है, वैसी दृष्टि डालना उनको क्यों "अनिवार्य एवं उपयोगी" लगा है, किसी प्रकार समझ में नहीं आता। वस्तुतः अपनी विस्तृत चर्चा में उन्होंने भाषा और वाक् के अन्तर पर बल दिया है और लेखन का संबंध भाषा से स्थापित किया है। भाषा के साथ लेखन का संबंध निर्विवाद और सर्वविदित है। इसलिए मैंने कुछ वाक्यों में इसका संकेत करके तथा संबद्ध तुल्यता का इंगित करके छोड़ दिया था। भाषा और वाक् का अन्तर मैंने स्पष्ट नहीं किया; केवल एक स्थल पर वाक् के स्तर पर पाए जाने वाले पूर्वभाषायी सार्वभौम तत्व के रूप में 'अ' की चर्चा करते हुए 'वाक्' शब्द का प्रयोग कर दिया था।

वास्तविकता यह है कि सस्यूर द्वारा 'लांग' तथा 'परोल' का अन्तर प्रतिपादित किए जाने के बाद जब भी किसी ने इन्हीं शब्दों के द्वारा या इनके अँगरेजी अनुवाद 'लैंग्वेज' तथा 'स्पीच' द्वारा या हिन्दी अनुवाद 'भाषा' तथा 'वाक्' द्वारा संबद्ध अवधारणाओं की चर्चा की है, तब लेखन के संबंध में इनके अंतर को महत्व नहीं दिया गया है। इस अंतर की उपयोगिता श्रीवास्तव ने भी अपने मूल विवेचन में कहीं प्रदर्शित नहीं की। लोगों ने प्रायः 'भाषा' शब्द का ही प्रयोग किया है। 'वाक्' का प्रयोग किसी ने किया है तो 'भाषा' से उसकी भिन्नता स्थापित करते हुए लेखन के सदर्भ में नहीं किया है। ऐसा लगता है

कि सस्यूर का उक्त विभेद देने का प्रलोभन किसी कारण श्रीवास्तव को हो गया और उन्होंने उसका विवेचन अपने लेख में सम्मिलित कर लिया। अनावश्यक बात जब इस प्रकार प्रलोभनवश डाली जाती है, तब प्राय: वह वाग्जाल और शब्दाडम्बर बनकर रह जाती है, कई बार उसमें असंगतियाँ भी आ जाती हैं। भाषा और वाक् की श्रीवास्तव की चर्चा भी इससे मुक्त नहीं है।

श्रीवास्तव के विवेचन से स्पष्ट है कि भाषा और वाक् का अन्तर वे सैद्धांतिक रूप से जानते और समझते हैं; लेकिन व्यवहार में उसका निर्वाह नहीं कर पाते। ध्यान से देखें तो उन्होंने वाक् को उच्चारण का पर्याय मान लिया है; इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि वाक् में भाषा भी समाहित होती है। यदि लिपि को वाक् के लेखन का साधन बताया जाता है तो वह स्वत: और अनिवार्यत: भाषा के लेखन का साधन बन जाती है। सभी जानते हैं कि भाषा के दो माध्यम हैं—वाक् और लेखन; लेकिन यह भी स्पष्ट है कि प्रथम माध्यम के मूल अभाव में भाषा की कल्पना असंभव है जबकि द्वितीय माध्यम के अभाव में पाई जाने वाली भाषाओं की संख्या लम्बी-चौड़ी है। लेखन के माध्यम में अवतरित होने के लिए भाषा को वाक् के माध्यम से व्यक्त होना पड़ता है। जब हम किसी को डिक्टेशन देते हैं, तब लिखनेवाला व्यक्ति भाषा को वाक् के माध्यम से ही ग्रहण करके लिपिबद्ध करता है। जब हम स्वयं चुपचाप लिख रहे होते हैं, तब भी भाषा की इकाइयों को अव्यक्त वाक् की इकाइयों के साथ जुटाकर लिख रहे होते हैं। लेखन की इकाइयों के साथ जुड़कर ही भाषा की इकाइयाँ वाक् में अवतरित हों, ऐसा नहीं होता। इस दृष्टि से जो प्रथम आरेख श्रीवास्तव के लेख में है, वह भ्रामक और अशुद्ध है; क्योंकि उससे कुछ ऐसा आभास मिलता है कि भाषा का संबंध लेखन से प्रत्यक्ष नहीं है, बीच में वाक् है जिसका अस्तित्व भाषा से बिल्कुल पृथक् जान पड़ता है। यह आरेख

भाषा←→वाक्←→लेखन

कुछ विद्वानों के मतों के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया गया बताया गया है, लेकिन उन विद्वानों के मतों में सस्यूर का भाषा तथा वाक् का विभेद विद्यमान ही नहीं है; उसे श्रीवास्तव ने अपनी ओर से आरोपित कर दिया है। उल्लिखित मतों में तो भाषा और वाक् की समकालिक सम्प्राप्ति का इंगित है जिससे लेखन का संबंध बताया गया है। इस दृष्टि से उक्त मतों को निम्न प्रकार आरेखबद्ध करना चाहिए :—

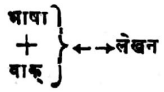

इसी संदर्भ में जो बातें श्रीवास्तव ने कही हैं, वे भ्रामक और अर्थहीन हैं। उदाहरणार्थ, उनका यह कथन कि "लेखन वाक् का स्थानापन्न नहीं है" उनके इस कथन के विपरीत जाता दिखाई देता है कि भाषा या तो वाक् के माध्यम में अवतरित होती है या लेखन के। यदि वाक् और लेखन दोनों भाषा के माध्यम हैं तो दोनों में से किसी एक को अपनाने की जो बात उन्होंने अपने दूसरे आरेख

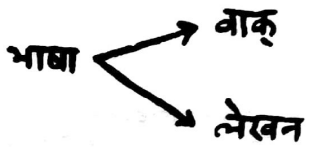

से निर्दिष्ट की है, वह 'स्थानापन्नता' की सूचक नहीं है तो क्या है? यों दोनों माध्यमों का स्वरूप-भेद उनके क्षेत्र-भेद को प्रतिपादित करने वाला तत्व है; इसलिए स्थानापन्नता की बात पर उक्त आधार पर भी प्रश्नचिन्ह लगता है। यह दूसरा आरेख भी भ्रामक है क्योंकि इसमें वाक् और लेखन परस्पर असम्बद्ध दिखाये गये हैं। भाषा और वाक् के अवधारणा-भेद को सन्निविष्ट करते हुए वस्तु-स्थिति को आरेखबद्ध करने की निम्नलिखित पद्धति प्रामाणिक और शुद्ध है :

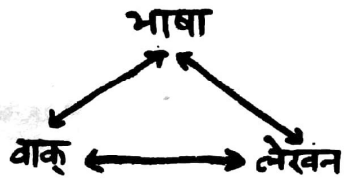

=

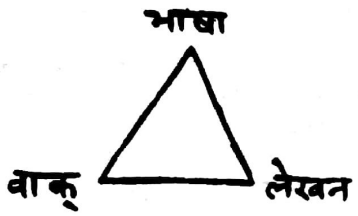

इस आरेखण के संदर्भ में श्रीवास्तव की इस बात का खंडन भी आवश्यक है कि लेखन "भाषा के उच्चरित विकल्प का प्रामाणिक प्रतिनिधित्व" नहीं करता। यदि कोई कुछ बोलता है जो अव्याकरणिक हो जाता है या उच्चारण में स्खलन

मिलता है तो इसे वाक् के धरातल पर यथार्थ माना जाता है (भाषा में इसे परिगणित नहीं करते); लेकिन लेखन में वाक् के इन तत्वों का समावेश संभव है। यदि कोई 'उसके चार बेटी हो गये' बोल जाता है तो उसे इसी अव्याकरणिक रूप में लिखकर लेखन का संवाद वाक् के साथ स्थापित कर दिया जा सकता है। 'डरवाज़े पर डाडाजी डेर से डस्टक डे रहे हैं' में लेखन ने भाषा के 'द' को वाक् के 'ड' में प्रस्तुत किया है और लेखन तथा वाक् का सीधा संवाद स्थापित हुआ है। कोई हकलाकर बोलता है तो वाक् के इस तत्व को भी लेखन ग्रहण कर सकता है : 'अअ आप अअ अपनी बात क क ·· कहिए !' किसी अपरिचित भाषा का डिक्टेशन लेने जो व्यक्ति बैठता है, वह वाक् से सीधा संवाद रखने के लिए विवश है, लेकिन भाषा उसके लेखन में विद्यमान पाई जाती है।

वास्तविकता यह है कि लेखन में भी अवधारणा के स्तर पर भाषा और वाक् की तरह के भेद उन्हीं के समानान्तर किये जा सकते हैं। जिस प्रकार भाषा एक 'आदर्श' रूप होती है, उसी प्रकार लेखन का भी एक 'आदर्श' रूप होता है। खाँसना-खखारना, हकलाना, साँस टूटना भाषा में वाक् के धरातल पर आने वाले तत्व हैं। उसी प्रकार स्याही गिर जाना, अक्षर का कोई अंश अल्पलिखित रह जाना, कहीं कोई अंश घसीट में लिख जाना 'आदर्श' लेखन के स्थूल रूपायन में ('वाक्' के समकक्ष) पाए जाने वाले तत्व हैं। भाषा एक कूट है और वाक् उसका माध्यम है : इसी के समानान्तर दो शब्दों का भिन्न अर्थों में प्रयोग करते हुए कह सकते हैं कि लेखन एक कूट है और लिखाई उसका माध्यम है। इतनी गहराई में अभी तक विद्वान् नहीं गये हैं, इसलिए दोनों के विषय में कुछ बातें यहाँ कह देना उचित होगा :

(१) भाषा/लेखन में ऐसे वाक्य की परिकल्पना स्वाभाविक है जिसे कोई एक हज़ार वर्ष में पूरा करे, वाक्/लिखाई में यह अस्वाभाविक और असंभव है।

(२) भाषा/लेखन एक समष्टि रूप है, वाक्/लिखाई में व्यष्टि रूप दिखता है। कोई साधु वाक्य सबके लिए साधु वाक्य है, उसमें स्खलन व्यक्ति-विशेष द्वारा प्रसंग-विशेष में आ सकता है। इसी प्रकार किसी अक्षर की आकृति समाज की परिकल्पना में स्वीकृत होती है, उसकी लिखाई में प्रत्येक व्यक्ति अपनी निजी भंगिमा ले आता है।

(३) वाक् में भी कई स्तर सामान्यीकरण के हैं। वागंगों के गुणों के कारण कुछ बातें अनेक वक्ताओं की वाक् में समान रूप से प्राप्त होती हैं। उदाहरणार्थ, वक्ता पुरुष है या स्त्री, वृद्ध है या युवक या बालक—ये

वाक्-स्तर पर पाई जानेवाली सामान्यीकृत सूचनाएँ हैं। वागंगों की तात्कालिक स्थिति वाक् में ही एक अन्य सामान्यीकृत स्तर निर्मित करती है। उदाहरणार्थ, जुकाम की स्थिति में उक्त सबकी वाक् एक विशेष प्रकार से प्रभावित होती है। आवेश आदि एक अन्य स्तर पर वाक् में सामान्यीकृत लक्षण उत्पन्न करते हैं। लिखाई में जानकार लोग पुरुष और नारी, युवा और बालक आदि का भेद जान लेने का दावा करते हैं। हड़बड़ाहट की लिखाई एक अन्य स्तर पर कुछ सामान्य गुण सब में ला देती है। अक्षरों का दाहिने या बाएँ झुकना आदि भी लिखाई के स्तर के तत्व हैं। हस्तलेख-विशेषज्ञ लेखन के स्तर पर नहीं, व्यक्ति विशेष की लिखाई के स्तर के सामान्यीकृत तत्वों पर सक्रिय होता है।

(४) अन्ततः श्रीवास्तव का यह वक्तव्य गलत है कि "वाक् की प्रमुखता अपनी प्रकृति में केवल व्यक्तिवृत्तात्मक है" : वस्तुतः वह वृत्तवृत्तात्मक है अर्थात् यदि एक व्यक्ति कोई वाक्य दस बार बोलता है तो आवाज़ से उस व्यक्ति की पहचान करा देने वाले तत्व (वह पुरुष है या नारी, क्रुद्ध है या शान्त; परिचितों के लिए रमेश है या महेश) भले ही दसों वृत्तों में एकत्व की खोज और स्थापना कर लेते हैं (जो वाक् का एक सामान्यीकृत स्तर है); लेकिन मूल प्रकृति में ये दसों उच्चार दस वृत्त हैं (जो वाक् का विशेषीकृत स्तर है) जिन्हें ध्यान से देखें-सुनें तो उनमें परस्पर कुछ भेद भी दिख सकते हैं (साँस का अलग-अलग स्थानों पर टूटना; एक उच्चार में खाँसी विद्यमान है, दूसरे में उकताहट, तीसरे में अधिक उकताहट आदि)। भेद नहीं भी दिखते तो भेदों का अभाव प्रमाणित नहीं होता, भेद देख-सुन पाने की हमारी सीमित क्षमता प्रमाणित होती है। ठीक ऐसे ही लक्षण और स्तर लिखाई में मिलते हैं। कोई हस्तलेख रमेश का है या महेश का, यह हम लिखाई के एक सामान्यीकृत स्तर (व्यक्तिवृत्तात्मकता) से जानते हैं, लेकिन एक ही व्यक्ति एक बात दस बार लिखे तो यह लिखाई का मूल प्रकृति वाला विशेषीकृत स्तर है (वृत्तवृत्तात्मकता) जिसमें दस वृत्त पृथक्-पृथक् स्वीकार करने होंगे। संभव है एक में स्याही का धब्बा लग गया हो, दूसरे में कोई अक्षर बिगड़ गया हो, तीसरे में धब्बा अन्यत्र लग गया हो, चौथे में कोई अन्य अक्षर बिगड़ गया हो। कुछ भेद हमारी सीमित क्षमता के कारण हमें शायद न दिख रहे हों।

लेखन और लिखाई के इस सूक्ष्म भेद की उपेक्षा कर दें और स्थूल रूप में ही 'लेखन' शब्द का प्रयोग करें (जैसा कि श्रीवास्तव इत्यादि विद्वान् करते हैं) तो भी यह प्रश्न विचारणीय है कि क्या वाक् से स्वतंत्र भाषा किसी लेखन-व्यवस्था

में आबद्ध मिलती है। चित्रलिपि इस विशेषता के निकट आती दिखती है। चित्र अपने आप में लिपि नहीं होते, उन्हें देखा और सराहा जाता है, उनसे कोई निश्चित और समाजसम्मत सन्देश नहीं मिलता, उन्हें पढ़ा नहीं जा सकता। चित्रलिपि में कुछ गुण चित्रों के होते हैं, शेष लिपि के। 'ज़हरीला' और 'ख़तरा' के चिह्न (जिन्हें श्रीवास्तव ने 'लेखन' नहीं माना है) चित्रलिपि के लेखन के अंग हैं। उन्हें पढ़ने में विभेद मिलते हैं : कोई जिसे 'ख़तरा' पढ़ता है, दूसरा उसे 'डैंजर' पढ़ता है। यह स्थिति चीनी लिपि-जैसी है जिसमें कोई लिखित सन्देश चीन के विस्तृत भूभाग में ठीक-ठीक समझ लिया जाता है यद्यपि अपने-अपने स्थान की बोली के अनुसार पढ़ा अलग-अलग जाता है। यहाँ लेखन को श्रीवास्तव-जैसे विचारों वाले विद्वान् वाक् से स्वतंत्र मानेंगे। लेकिन 'डैंजर' और 'ख़तरा' भिन्न-भिन्न भाषाओं के शब्द हैं, इसलिए इन्हें भाषा से स्वतंत्र मानने की भी नौबत आ जाएगी। (चीन में बोलियों से स्वतंत्र मानने की स्थिति आएगी।) इसका वास्तविक समाधान यह है कि ऐसे संकेत विभिन्न बोलियों या भाषाओं से सम्बद्ध होने के कारण उच्चारण-भेद होने के बावजूद भाव-साम्य के कारण चित्रलिपि या भावलिपि में एक ही इकाई की रचना करते हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे किसी भाषा का एक शब्द अनेक उच्चारणात्मक विभेदों के बावजूद एक इकाई (=शब्द) रहता है। प्रत्येक विभेद को वाक् के धरातल पर एक पृथक् सामान्यीकृत स्तर पर स्वीकार करना होगा।

उपर्युक्त चर्चा के प्रकाश में यह तो सिद्ध होता है कि लेखन 'भाषा' (श्रीवास्तव यहाँ 'वाक्' शब्द का प्रयोग कर गये हैं; उनका तात्पर्य भी 'भाषा' से ही है) को एक अतिरिक्त व्यवस्था प्रदान करता है, लेकिन श्रीवास्तव का यह विचार ग़लत है कि "लेखन वाक् को प्रतिस्थापित नहीं करता।" उसका प्रकार्य प्रसंगाबद्ध होता है। जब हम लोग बोलते नहीं हैं, लिख-लिखकर अपना सन्देश देते हैं (विनोबाजी के मौन व्रत की भाँति), तब लेखन वाक् को प्रतिस्थापित भी करता है यद्यपि जैसा कि मैं ऊपर कह आया हूँ, यह लेखन भी मूल प्रकृति में वाक् से असम्बद्ध नहीं होता।

अब श्रीवास्तव के कुछ वक्तव्यों का खोखलापन स्पष्ट हो जाना चाहिए। वे कहते हैं : "भाषाविद् ...वाक् की प्रमुखता के प्रति इतने अनुरक्त रहे हैं कि उनकी दृष्टि में वाक् या भाषा की उच्चरित सिद्धि 'भाषा' का ही पर्याय बन गई है। यही कारण है कि विद्वानों में लेखन को उच्चारण द्वारा पहचानने की सामान्य प्रवृत्ति हमें सर्वदा दिखाई देती है। यह प्रवृत्ति उन उक्तियों द्वारा प्रमाणित भी होती है जिनमें यह कहा जाता है कि लेखन वाक् को लिपिबद्ध करने का एक साधन या उसे प्रस्तुत करने का एक औजार है। ब्लूमफ़ील्ड लेखन को वाक् की तुलना में इस तर्क द्वारा गौण सिद्ध करते हैं कि लेखन क्योंकि वाक्

को लिपिबद्ध करने का एक साधन है अतः वह वाक् से व्युत्पन्न है। इस बात को बल दिया जाता रहा है कि लेखन भाषा के लिए एक वैकल्पिक उपांग मात्र है।" इन वक्तव्यों पर उपर्युक्त विवेचन के प्रकाश में विचार करें तो वाक् के भाषा के पर्यायवत् प्रयोग का कारण भाषाविदों की 'अनुरक्तता' नहीं है, तथ्यात्मकता है। उच्चारण न होने की अवस्था में भाषा का लोप नहीं हो जाता; उच्चारण के पहले और बाद भी भाषा के अस्तित्व की भूमिकाएँ हैं, इसे भारतीय मनीषा ने ही अत्यंत सूझ-बूझ के साथ स्वीकार नहीं किया था, पाश्चात्य विद्वान् भी निरन्तर इसे मानते रहे हैं। लेकिन यह भी सर्वविदित है कि विश्लेषण के वैज्ञानिक उपादान स्थूल और भौतिक रूप में उपलब्ध सामग्री पर सुगमतापूर्वक लागू होते हैं, इसलिए चाहे भाषायी विश्लेषण हो चाहे लेखन, दूसरे व्यक्ति का अन्तव्य (या उससे प्राप्य सामग्री) तो वाक् के माध्यम से ही उपलब्ध है। लेखन को उच्चारण द्वारा पहचानने की सामान्य प्रवृत्ति इसीलिए सर्वथा तर्क-सम्मत है, उच्चारण को लेखन द्वारा पहचानने की बात नहीं की जा सकती। पहचानना भाषा को लक्ष्य बनाकर चलता है; लेकिन वह वाक् को भी पकड़ता है, इसके उदाहरण मैं ऊपर दे चुका हूँ। यदि डिक्टेशन देते समय हम 'गो' का उच्चारण करते हैं तो देवनागरी लेखन का लिपिक इसे लिख लेने में समर्थ है यद्यपि अभी यह उच्चारण की ही इकाई है, उसे शायद यह भी पता नहीं है कि यह अँगरेज़ी भाषा का शब्द है या संस्कृत का या हिन्दी के किसी शब्द (गोस्वामी, गोचर, गोया, गोधन, गोलक, गोला, गोली, गोलाई, गोल आदि) का आरंभ है। यही नहीं, वह उच्चारण से ही 'कपण्डु वकड़ा टेकनी नोलेम' लिख सकता है यद्यपि उसे यह भी पता नहीं कि यह कोई भाषा है भी या नहीं। सिद्ध है कि लेखन वाक् को (उच्चारण तक को) लिपिबद्ध करने का साधन है और यह भाषा को भी लिपिबद्ध करता है। ब्लूमफ़ील्ड का तर्क भी सही है : लेखन वाक् से व्युत्पन्न है, वाक् लेखन से व्युत्पन्न नहीं है।

जैसा कि मैं पीछे कह आया हूँ, भाषा और वाक् की विस्तृत चर्चा की कोई सम्बद्धता श्रीवास्तव के मूल विषय या शेष निबंध-भाग से नहीं है। वाक् के वास्तविक लक्षणों की परीक्षा भी उन्होंने नहीं की है। इन दोनों अवधारणाओं के अभिज्ञान के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को भी उन्होंने विद्वानों के मतों पर घटित नहीं किया है। फिर इस चर्चा का क्या कारण है, कहना कठिन है। संभव है, मेरे लेख की प्रारंभिक पंक्तियाँ "लिपि भाषा का प्रतिरूप होती है। वह कुछ बातों में भाषा की अपेक्षा अधिक समर्थ तथा कुछ बातों में अपेक्षाकृत असमर्थ होती है। सामर्थ्य और असामर्थ्य के जो लक्षण किसी भी लिपि में अनिवार्यतः होते हैं, उनकी चर्चा हम यहाँ नहीं करेंगे।" पढ़कर उन्हें लगा हो कि सामर्थ्य-असामर्थ्य के जो लक्षण मेरे ध्यान में रहे होंगे, वे वाक् के रहे होंगे और स्पष्टीकरण के

लिए उन्होंने यह विस्तृत प्रसंग जोड़ दिया। वास्तविकता यह है कि मेरे ध्यान में जो लक्षण थे, वे भाषा और वाक् दोनों के थे और उपर्युक्त विवेचन में मैंने श्रीवास्तव की त्रुटियों के निर्देश भर के लिए आवश्यक बातें कही हैं, पूरे लक्षण मैंने अब भी नहीं गिनाये। मेरा सामर्थ्य-असामर्थ्य का वक्तव्य श्रीवास्तव के इस वक्तव्य में भी प्रतिबिम्बित दिखता है : "संप्रेषण का मौखिक माध्यम भाषाओं संप्रेषण की सभी माँगों को पूरा करने में असमर्थ होने लगता है।"

श्रीवास्तव का यह वक्तव्य भी ग़लत है कि "लिखित भाषा की इकाइयों तथा उच्चरित भाषा की इकाइयों में तत्वत: समानता नहीं मिल सकती।" यह समानता तो उन गहराइयों में भी मिल सकती है और मिलती है जिन पर श्रीवास्तव का ध्यान नहीं गया है और लेखन तथा लिखाई की चर्चा में मैंने जिनकी ओर इंगित किया है। वर्ण ('सिलेबिल') को लिपि का आधार बनाने तथा नागरी व्यंजनाक्षरों में 'अ' को निहित मानने के पीछे भी इस समानता की ओर उन्मुखता है, यह मैं अपने उपर्युक्त लेख में बता चुका हूँ। कितनी समानता 'मिलती है' यह एक अलग बात है और कितनी समानता 'मिल सकती है', यह एक अलग बात है। रोचक बात यह है कि उच्चारण के अपने सारे विरोध के बावजूद श्रीवास्तव ने भी देवनागरी की वर्णमूलकता के संदर्भ में मेरा उच्चारण-विषयक तर्क अपनाया है। पृ० १२४ पर वे कहते हैं : "अक्षर (मेरा 'वर्ण') उच्चारण एवं ग्रहण की मूलभूत इकाई है।"

शब्द-जाल में वक्तव्य किस प्रकार परस्पर-विरोधी हो जाते हैं, इसका उदाहरण पृ० ११२ की कुछ अंतिम पंक्तियों को पढ़कर उनकी तुलना पृ० ११४ के चालू पैरा के अंतिम भाग से करने पर उपलब्ध होता है। प्रथम वक्तव्य के अनुसार मर्षस्वानिमिक लेखन स्वानिमिक/स्वनिक लेखन की अपेक्षा "अधिक अमूर्त" है, द्वितीय वक्तव्य के अनुसार "कम अमूर्त" है।

मैंने अपने लेख में चार संबोध निर्धारित और सीमांकित किये थे :— आक्षरिकी, लिपि, लिप्युक्ति, वर्तनी। श्रीवास्तव ने दो गिनाये हैं :—लेखिम-विज्ञान (लिपि-व्यवस्था) तथा वर्त्तनी (मात्रा-व्यवस्था)। प्रथम में उन्होंने मेरे प्रथम तीन संबोध सम्मिलित कर दिये हैं जो संबोध-स्तर पर स्पष्टत: अलग हैं। वर्तनी को उन्होंने मात्रा-व्यवस्था कह दिया है जो ग़लत है। अ, इ आदि मात्राएँ नहीं हैं, स्वराक्षर हैं; जबकि ा, ि, ी इत्यादि मात्राएँ हैं। लेकिन अ, इ आदि वर्तनी में आते हैं। अँगरेज़ी के रोमन लेखन में कोई मात्रा-व्यवस्था नहीं है (देवनागरी में उसे लिखें तो यथास्थान मात्रा-व्यवस्था आ जाएगी), वर्तनी है। लिपि और भाषायी इकाइयों के 'संवाद' के लिए मैंने एक पृथक् संबोध 'लिप्युक्ति' निर्दिष्ट किया है; श्रीवास्तव ने यह कहकर उसका अनुमोदन (प्रथम दो संबोधों

की ओर मानो कनखियों से देखते हुए)-सा करने की चेष्टा की है कि लेखिम-प्रतीक की "प्रासंगिकता" किसी "भाषा-विशेष" में ही उद्घाटित होती है। मैं इस बात को सोदाहरण समझा चुका हूँ। अक्षरों की आकृति की भी चर्चा की जा सकती है और की जाती है। उनकी सुन्दरता, सरलता तथा वैज्ञानिकता की बात भी उठाई जाती है। यहाँ किसी भाषा से उनका 'संवाद' स्थापित होना आवश्यक नहीं है। यही नहीं, मेरे दिए हुए उदाहरणों में रूसी का 'नताशा' और अँगरेज़ी का उच्चारण 'हमात्रा' यदि एक ही प्रकार से लिखे जाते हैं; अँगरेज़ी 'हैम' यदि रूसी में 'नात' पढ़ा जाता है तो यह भाषा के संवाद की बात भेद के स्तर पर है और असंवाद की बात अभेद (अक्षराकृति) के स्तर पर। अँगरेज़ी की लिपि तो रोमन है ही, रूसी सिरिलिक लिपि को भी लोग 'रोमन' कहते हैं। फ्रेंच में लिखा हुआ 'त्रे' शब्द अँगरेज़ी की रोमन लिपि में ही है और अँगरेज़ी का 'ट्रेन' है। लिपि और लिप्युक्ति का अन्तर मैंने बहुत-कुछ स्पष्ट कर दिया है। ध्यान से पढ़ने पर किसी को समझने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए।

संवादों में मर्षवैज्ञानिक गठन का उल्लेख मैंने यथास्थान किया था। उसे परिगणित करते हुए श्रीवास्तव ने अँगरेज़ी के उदाहरण दिये हैं। ऐसे लेखन की भी अपनी उपयोगिता है, यह विद्वानों में मान्य बात है।

वर्णमाला के सिद्धांत का उल्लेख (द्विवेदी :—प्रत्येक वर्ण के लिए एक स्वतंत्र अक्षर अपेक्षित होगा) श्रीवास्तव ने ठीक-ठीक (प्रत्येक अक्षर=वर्ण के लिए भिन्न दृश्य-प्रतीक हों) किया है; लेकिन व्यवहार में अस्पष्टता और भ्रामकता आ गई है। पृ० ११९ की पादटिप्पणी इसके लिए अवलोकनीय है। शुद्ध वर्णमूलकता में ब, बे, बी, बो, बा के लिए पाँच भिन्न-भिन्न प्रतीक ही होने चाहिए (क्योंकि ये पाँचों अलग-अलग 'वर्ण' हैं) व्यंजन-समरूपता एक उपेक्षणीय तत्व है क्योंकि वह वर्ण से छोटी इकाई के स्वनिक साम्य से संबद्ध है। श्रीवास्तव ने उलटी बात कही है।

श्रीवास्तव के लेख का एक प्रमुख दोष यह है कि उन्होंने देवनागरी की परीक्षा करते हुए संस्कृत का उल्लेख न करके बार-बार हिन्दी का उल्लेख किया है। मैंने अपने लेख में यह स्पष्ट कर दिया था कि "चूँकि देवनागरी मूलत: संस्कृत भाषा के संदर्भ में थी, इसलिए उसकी वैज्ञानिकता-अवैज्ञानिकता का उचित विवेचन उसके मूल सन्दर्भ में ही हो सकता है।" श्रीवास्तव के पास मैंने जो अंश भेजा था और जो उनके सम्पादकत्व में प्रकाशित 'विश्व हिन्दी' (सन् १९८३) में संकलित है, उसमें उसके हिन्दी के सन्दर्भ के साथ अखिल भारतीय लिपि के रूप में प्रयुक्त होने की बात भी कही थी। उक्त स्मारिका विश्व हिन्दी-सम्मेलन के प्रसंग में थी, इसलिए मेरी हिन्दी-विषयक उक्त टिप्पणी

की आवश्यकता थी। लेकिन श्रीवास्तव ने अपने लेख में संस्कृत का नामोल्लेख भी नहीं किया है। उनके सामने प्रसंग का वैसा प्रश्न भी नहीं था। उन्होंने लिपि के मूल ऐतिहासिक आधार की परीक्षा में भी हिन्दी का आश्रय लिया है : अमृत माधव घाटगे की वारंवारता की सूची जो उन्होंने उद्धृत की है, *हिन्दी* की है। 'अ' को व्यंजन में सन्निविष्ट करने का औचित्य '*हिन्दी* में इनका प्रतिशत' तथा भारतीय आर्य भाषाओं का संदर्भ निर्दिष्ट करते हुए सिद्ध किया है। स्वराक्षरों तथा मात्राओं की वारंवरता भी *हिन्दी* के संदर्भ में है। 'अ' की मात्रा की अनुपस्थिति को कोई दोष न मानते हुए भी श्रीवास्तव ने *हिन्दी* तथा अन्य भारतीय भाषाओं के ही प्राप्त रूपों का हवाला दिया है। हिन्दी के संदर्भ में देवनागरी का प्रयोग एक बात है, किन्तु उसकी सर्वांगीण समीचीनता की परीक्षा दूसरी बात है। हिन्दी में ऋ और ष-सरीखे अक्षरों का औचित्य वह नहीं रह गया है जो संस्कृत में था; किसी उपयोगिता का जुड़े रहना भले संभव हुआ हो। वर्ण-निर्देश की संस्कृत वाली सरलता भी नहीं रह गई है; नियमों-उपनियमों की शृंखला के आधार पर औचित्य-साधन भले ही संभव हो। वर्णाश्रित लिपि में 'वत्स्य' और 'कमल' लिखा देखकर क्रमशः दो और तीन पूरे व्यंजनाक्षर पाकर संस्कृत में तो यह घोषणा सहज ही की जा सकती थी कि इन दो शब्दों में क्रमशः दो और तीन वर्ण हैं; हिन्दी में यह कहना होगा कि ये शब्द क्रमशः एक और दो वर्णों के हैं। अक्षरों और वर्णों की संख्या में यह जो अंतर हिन्दी में आ गया है, उसने देवनागरी की वार्णिक प्रकृति को एक धक्का तो दिया ही है। कुछ जटिल नियमों का आधार लेकर इस स्थिति की व्याख्या करने से संस्कृतवाली प्रकृत स्थिति तो नहीं आती। श्रीवास्तव ने इन तथ्यों पर दृष्टि नहीं डाली है।

कल्पित शब्द <उकुकी> लेकर श्रीवास्तव ने बताया है कि स्वरों और उनकी मात्राओं में लेखन-भेद होने के कारण इसका उच्चारण असंदिग्ध है; रोमन में इसे लिखें (जिसमें स्वर ही होते हैं, उनकी मात्राएँ नहीं होतीं) तो उच्चारण की चार संभावनाएँ बनी रहती हैं : /उ-कुक्-ई/, /उक्-उ-की/, /उक्-उक्-ई/ तथा /उ-कु-की/. वास्तविकता यह है कि स्वरों और उनकी मात्राओं के पार्थक्यवाली लिपि का यह गुण कहीं दोष के रूप में भी निरूपित किया जा सकता है क्योंकि श्रीवास्तव का ही "किसी भाषा-विशेष की वर्तनी-व्यवस्था का अंग बनकर" आने पर ही किसी "लेखिम-प्रतीक की प्रासंगिकता उद्घाटित" होने का युक्तियुक्त तर्क अपनाएँ तो रोमन में लिखित उपर्युक्त शब्द की उच्चारण-संभावनाएँ तो संबंधित भाषा-विशेष की वर्ण ('सिलेबिल')-संरचना की प्रकृति के नियमों से नियंत्रित होकर सीमित और व्यवस्थित हो जाएँगी (हिन्दी-भाषी अपनी भाषा की वर्ण-संरचना के प्रभाव में उपर्युक्त कल्पित शब्द रोमन में लिखा होने पर भी 'उकुकी' ही पढ़ेगा; उच्चारण की अन्य संभावनाएँ

उसके संदर्भ में शून्य हैं); लेकिन भिन्न-भिन्न वर्ण-संरचनाओं वाली भाषाओं को स्वरों तथा स्वर-मात्राओं के पृथक्-पृथक् रूपों वाली लिपि में उपर्युक्त शब्द अलग-अलग प्रकार से लिखना पड़ेगा (जैसा कि उपर्युक्त उच्चारण-संभावनाओं के लेखन में हुआ है) जबकि रोमन में उसका लेखन एक जैसा ही सरल बना रहेगा। इसके अतिरिक्त, स्वानिमिक मूल्य की विवृति को लेखन-व्यवस्था में स्थान देना तर्कसंगत है और उसकी सहायता से भी उच्चारण की संदिग्धता समाप्त हो जाती है। मुझे प्रसन्नता है कि देवनागरी की लेखन-व्यवस्था की प्रकृति के विषय में मेरी सारी मूल स्थापनाएँ और प्रतिपत्तियाँ श्रीवास्तव ने ज्यों-की-त्यों स्वीकार कर ली हैं (नामोल्लेख किए बिना ही सही); लेकिन उनका यह वक्तव्य मेरा नहीं है कि "अक्षरमाला के सिद्धांत पर आधारित वर्ण स्वनिमिक सिद्धांतों पर आधारित वर्णों की तुलना में *सीखने एवं प्रक्रिया के धरातल पर* अधिक सहज हैं ···· अक्षर आकृति वाले लेखिम-प्रतीकों की दृष्टि से देखें तो मात्राओं के स्थापन की *जटिलता नगण्य* सिद्ध होती है।" बृहदक्षरी अंशों के संदर्भ में मेरा विचार, अनुभव और मत श्रीवास्तव के ठीक विपरीत है। मेरी आशंका अन्य धरातलों पर है और अपने लेख में उन धरातलों का उल्लेख करने के लिए मैंने शब्दों का चुनाव सावधानी के साथ किया है।

<उकुकी> का उदाहरण देने की प्रेरणा यदि श्रीवास्तव को मेरे लेख के कल्पित शब्द <भाटकमकरा> से मिली हो जिसकी चार उच्चारण-संभावनाओं का उल्लेख मैंने अपने लेख में किया है तो मैं यह स्पष्ट कर दूँ कि उसका सन्दर्भ भिन्न है। (१) वह स्वरों और उनकी मात्राओं में भेद करने वाली लिपि देवनागरी का ही उदाहरण है जिसमें श्रीवास्तव के मतानुसार उच्चारण-भेद की संभावनाएँ नहीं रहतीं। (२) यह इंगित कर दिया गया है कि कल्पित शब्द हिन्दी का है (अर्थात् हिन्दी भाषा की वर्ण-संरचना के नियमों से नियंत्रित और निर्दिष्ट है)। संस्कृत आदि का शब्द होने पर यह समस्या न उठती क्योंकि व्यंजनाक्षरों में 'अ' का लोप न रहा होता। (३) यह भी बता दिया गया है कि इसमें प्रश्न प्रचलित 'वर्तनी' का है अर्थात् वर्तनी की प्रचलित वैकल्पिक परम्परा की उपेक्षा करें तो हलन्त-चिन्हों के निर्देश से या संयुक्त व्यंजनों से यथार्थ उच्चारण का निर्देश लेखन-व्यवस्था में सहज ही लाया जा सकता है। (४) यह भी कह दिया है कि यह शब्द एक ही है (एकाधिक शब्दों की स्थिति में शिरोरेखा-भंग से यथार्थ उच्चारण का निर्देश हो जाता)। उल्लिखित संभावनाएँ होतीं तो वर्तनी की स्थितियाँ निम्न प्रकार होतीं :

	हलन्त-चिन्हों से	संयुक्त व्यंजनों से	शिरोरेखा से
१.	भाटक्मक्रा	भाटक्मक्रा	भाटक मक्रा
२.	भाटकम्क्रा	भाटकम्क्रा	भाटकम क्रा

३.	भाट्कम्करा	भाट्कम्करा	भाट कम करा
४.	भाट्कमक्रा	भाट्कमक्रा	भाट कमक रा

इस प्रकार मैंने भली भाँति मर्यादा निर्धारित करके यह प्रतिपादित किया था कि संस्कृत के सन्दर्भ की लिपि अपनी वर्तनी के नियमों के साथ हिन्दी में आ गई है तो कैसी-कैसी समस्याएँ उठ खड़ी हुई हैं।

अब उन दृश्य प्रतीकों की चर्चा करें जो श्रीवास्तव ने अपने लेख में दिये हैं। इन्हें "चतुर्आयामी" दृश्य प्रतीक कहा है। इसमें 'चतुर्आयामी' शब्द कई तरह से ग़लत है। एक तो ऐसा कोई शब्द सन्धि-नियमों और वर्तनी-नियमों से बनता ही नहीं। किसी भी स्वराक्षर पर रेफ़ नहीं लगता क्योंकि रेफ़ उस अक्षर के पहले पढ़ा जाता है जिसके ऊपर वह लगा है और रेफ़ अनिवार्यत: व्यंजनपूर्व संकेत है। स्वर-मात्रा पर वह लग सकता है क्योंकि स्वर-मात्रा व्यंजनाक्षर के अंग के रूप में लिखी जाती है और संबद्ध रेफ़+व्यंजन के बाद पढ़ी जाती है। संधि की दृष्टि से रूप बनना चाहिए—'चतुरायामी'। इसमें भी 'आयामी' की आवश्यकता नहीं है। 'चार आयामों वाला' अर्थ देने के लिए भी संज्ञा या विशेषण रूप होगा 'चतुरायाम'; उसी प्रकार जैसे 'चतुरानन' शब्द बनता है। यदि इस संशोधन के साथ श्रीवास्तव की उक्त अवधारणा पर विचार करें तो एक समस्या यह आती है कि 'आयाम' शब्द का प्रयोग कहाँ तक उचित है। 'आयाम' डाइमेंशन के लिए प्रयुक्त होता है; 'दिशा' डाइरेक्शन के लिए। यदि एक खड़ी रेखा खींचें तो वह दो दिशाओं का निर्देश करती है (उत्तर और दक्षिण) और एक आयाम (वर्टिकल) का। यदि एक आड़ी रेखा खींचें तो वह दो अन्य दिशाओं (पूर्व और पश्चिम) का निर्देश करेगी तथा एक अन्य आयाम (हॉरिज़ंटल) का। यदि कोनों को अलग दिशाएँ मानें तो दो आयामों में ही आठ दिशाएँ मिल जाती हैं। यदि पृ० १२६ पर बनाए हुए चित्र में उन्होंने चार आयामों की कल्पना की है तो उसमें तो तीन ही आयाम हैं। उपर्युक्त दो आयामों के अतिरिक्त तीसरा आयाम गहराई का जुड़ गया है। कठिनाई यह है कि कहीं भी यह बात असंदिग्ध रूप से नहीं कही गई है कि 'चतुरायाम' उनके मतानुसार कौन-सा चित्र है। उक्त चित्र के विषय में उन्होंने यह पूर्वटिप्पणी दी है—"दृश्य प्रतीकों के निर्माण में इस चतुरायाम अंतराल का बड़े ही उत्तम तरीके से उपयोग किया जाता है।" अर्थात् यह चित्र स्वयं में 'चतुरायाम' नहीं है। उनके चित्र की कल्पना हम ऐसे हॉल के रूप में कर सकते हैं जिसमें घुसते ही हम ठिठक कर खड़े हो गये हैं। इसमें आयाम तो मुझे उपर्युक्त तीन दिखते हैं; श्रीवास्तव ने चिन्हांकन पाँच धरातलों पर किये हैं (अर्थात् ये भी चार नहीं हैं): (१) फर्श (२) छत (३) दाईं दीवाल (४) बाईं दीवाल (५) सामने की दीवाल। चिन्हांकन के स्थल लें तो वे भी चार नहीं हैं, उक्त चित्र में छह हैं—छत के दो

स्थल चुने गये हैं: एक ठीक ऊपर का, दूसरा दाहिनी ओर का। वस्तुत: यह चित्र भ्रामक भी है क्योंकि मात्रा-लेखन तो दो आयामों में ही सम्पन्न हो जाता है। मूल व्यंजनाक्षर के लिए उन्होंने जो गहराई (सामने की दीवाल) का आयाम चुना है, वह लेखन में होता ही नहीं। लेखन तो एक ही धरातल (काग़ज़, स्लेट, ब्लैक बोर्ड) पर चलता है। व्यंजनाक्षर के चारों ओर मात्राओं के लगने से एक चतुर्भुज अर्थात् चतुष्कोण की कल्पना अवश्य की जा सकती है जिसके केन्द्र में व्यंजनाक्षर होता है, चारों ओर मात्राएँ होती हैं। शब्दाडंबर और बाग्जाल से जिस प्रकार एक रहस्यमयता का निर्माण होता है, तथ्यों की हत्या भी हो जाती है; उसी प्रकार चित्राडंबर और चित्रजाल से भी होता है। मात्रा-लेखन में भी श्रीवास्तव अपने चित्र-जाल में उलझ गये हैं। े तथा ै को उन्होंने ऊपर की छत के दाहिने भाग में अंकित किया है जो अशुद्ध है। ै की मात्रा दाहिनी दीवाल पर है। इन तीनों मात्राओं को एक स्थल पर होना चाहिए। तीनों व्यंजनाक्षर के बाद लगती हैं और तीनों का ऊर्ध्वाधि शिरोरेखा के ऊपर जाता है। यदि शिरोरेखा के ऊपर कुछ अंश जाने के कारण उपर्युक्त तीनों मात्राएँ छत के दाहिने भाग पर पहुँचती मानी जाएँ तो तीनों को उसी स्थल पर होना चाहिए अन्यथा तीनों को दाहिनी दीवाल पर रखना चाहिए। शिरोरेखा के ऊपर कुछ अंश जाना यदि मात्रा को छत पर स्थान देता हो तो ि मात्रा छत के बाएँ भाग में जानी चाहिए, बाईं दीवाल पर नहीं। वास्तविकता यह है कि देवनागरी लेखन बाएँ से दाएँ चलने के कारण बाएँ और दाएँ भागों को वरीयता है: इसलिए जो मात्राएँ इन स्थलों पर लगती हैं, उनका आंशिक रूप से शिरोरेखा के ऊपर जाना गौण तथा चित्र-प्रस्तुति में उपेक्षणीय है। शिरोरेखा के ऊपर की स्थिति की गौणता देवनागरी में रेफ़ से भी सिद्ध होती है जो व्यंजनाक्षर पर लगता है (उदा० र्च) लेकिन दाईं ओर मात्रा लगाने से अपनी अस्थिरता दिखाता हुआ मात्रा पर खिसक जाता है (उदा० र्चा, र्ची र्चो)। भाषा और लेखन के ऐसे वैज्ञानिक तथ्य सुशिक्षित समाज के मानस के अवचेतन में स्वत: पहुँच जाते हैं, विश्लेषण-सम्मत जानकारी उन्हें भले न होती हो। हिन्दी समाज ि को बाईं ओर, ी, े तथा ै को दाईं ओर लगनेवाली मात्राएँ ही बताता है, ऊपर (के कोनों पर) लगने वाली मात्राएँ नहीं बताता। उक्त चित्र-जाल की सूझ आने के पहले श्रीवास्तव भी पृष्ठ १२२ पर सीधे-सादे ढंग से े तथा ै का स्थान ा की भाँति 'व्यंजनों के बाद' तथा ि का उसी प्रकार 'व्यंजनों के पहले' बता जाते हैं। फिर चित्राडंबर की रहस्यमयता से आकृष्ट होकर चित्र-जाल बनाते हैं और उसमें उलझ कर अपना खंडन कर जाते हैं।

उक्त चित्र में श्रीवास्तव ने "बड़े ही उत्तम तरीके से" पदबंध जोड़ा है; वह भी गलत और निराधार है। बहुत से लोग कहेंगे कि सारी मात्राएँ

व्यंजनाक्षरों के बाद लगतीं तो अधिक 'उत्तम' होता (मैं देवनागरी के वार्णिक आधार को ध्यान में रखते हुए दोनों विकल्पों के प्रति तटस्थ हूँ)। किसी भी एक ओर लगना भी एक उत्तम विकल्प माना जा सकता है। चारों ओर वितरण करना हो तो दाईं ओर चार मात्राओं (आ, ई, ओ, औ), बाईं ओर एक मात्रा (इ), ऊपर दो मात्राओं (ए, ऐ) तथा नीचे चार मात्राओं (उ, ऊ, ऋ, ॠ) का वितरण किसी 'उत्तमता' का परिचायक नहीं है। यही नहीं, इ तथा ई के लेखन में तो उ, ऊ की मात्राएँ दाईं ओर पहुँच जाती हैं जिससे दाईं ओर की मात्राएँ छह बन जाती हैं। दिशाओं में मात्राओं का विषम वितरण, नीचे की मात्रा का दाहिनी ओर पहुँच जाना, मात्राओं के अतिरिक्त अन्य तत्वों (रेफ़, अनुनासिकता, अनुस्वार, संयुक्त व्यंजन आदि) के लिए भी इन्हीं दिशाओं का उपयोग आदि ऐसी बातें हैं जो यह प्रमाणित करती हैं कि इनके स्थान-निर्धारण में कोई 'उत्तमता' नहीं है, यादृच्छिकता और वैज्ञानिक महत्वहीनता है। वर्ण का सीमांकन अभिप्रेत होता है, वह सफलतापूर्वक देवनागरी कर लेती है; वर्ण के घटकों का स्थान-निर्देश उपेक्षणीय और महत्वहीन तत्व बन जाता है, उसमें 'उत्तमता' या 'अधमता' नहीं होती। मैंने अपने लेख में कहा था कि "मात्रा कहाँ लगाई जाय, यह बात गौण है··· व्यंजनाक्षर के इर्द-गिर्द उसे अपना कोई ठौर ढूँढ़ना पड़ता है।" मेरे इस वक्तव्य की पूरी प्रामाणिकता और गहराई को आत्मसात् करने के लिए बहुत सावधानी से सोचने-समझने की आवश्यकता है।

मात्राओं के स्थान-निर्धारण में इसलिए भी कोई 'उत्तमता' नहीं है कि छोटी और बड़ी इ की मात्राएँ व्यंजनाक्षर के बाएँ तथा दाएँ लगती हैं; लेकिन छोटे और बड़े उ की मात्राएँ व्यंजनाक्षर के ऊपर तथा नीचे वितरित नहीं हैं, दोनों ही नीचे लग जाती हैं। छोटी और बड़ी ऋ की मात्राएँ भी नीचे ही लग जाती हैं।

मात्राओं की आकृति में भी कोई 'उत्तमता' नहीं है, यादृच्छिकता और महत्वहीनता है। ए की मात्रा की आवृत्ति कर दें तो वह ऐ की मात्रा बन जाती है; लेकिन ओ की मात्रा को औ की मात्रा का रूप देना हो तो केवल ऊर्ध्वांश की ही आवृत्ति होगी, सम्पूर्ण मात्रा की नहीं। ऋ से ॠ की मात्रा में पूरी आवृत्ति का तत्व मिलता है लेकिन ऊपर-नीचे, ए और ऐ की मात्राओं की भाँति बाएँ-दाएँ नहीं। इ-ई की मात्राओं में आवृत्ति है ही नहीं, स्थान बदलने से और मात्राकृति पलटने (प्रत्यक्ष भाग को परोक्ष तथा परोक्ष भाग को प्रत्यक्ष धरातल पर लाने) से एक मात्रा दूसरी मात्रा बन जाती है। यही बात उ और ऊ की (इ तथा ई का उदाहरण छोड़कर) मात्राओं पर लागू होती है; लेकिन इनमें दोनों मात्राएँ

एक ही स्थल पर लगती हैं (परस्पर स्थान नहीं बदलतीं) और इन्हें पलटा नहीं जाता, घड़ी की सुई की भाँति एक ही धरातल पर अपनी ही धुरी पर घुमाया जाता है।

श्रीवास्तव के चतुरायाम "दृश्य-प्रतीक" के अस्तित्व की खोज मैं नहीं कर पाया। उपर्युक्त व्यायाम में तो उन्होंने "दृश्य-प्रतीकों के निर्माण में··· चतुरायाम अन्तराल" की बात कही है। उसके पहले वे "एक" चतुरायाम दृश्य-प्रतीक की "कल्पना" और "विकास" का उल्लेख करते हैं; लेकिन वह "एक" चतुरायाम दृश्य-प्रतीक कौन-सा है, कहाँ है, यह नहीं बताते; चार दृश्य-प्रतीक प्रस्तुत करते हैं जिनमें "दो मूल तथा दो व्युत्पन्न प्रकार" के हैं। क्या ये चारों दृश्य-प्रतीक हैं या एक दृश्य-प्रतीक के चार आयाम हैं? या चारों स्वतंत्र दृश्य-प्रतीक भी हैं और अपने आप में एक-एक आयाम भी हैं? इस रहस्य की गुत्थी सुलझाने के लिए कोई कुंजी श्रीवास्तव के लेख में नहीं है। यह भी उल्लेखनीय है कि जिस व्यायाम (देवनागरी लेखन में वस्तुतः व्यायाम की स्थिति भी नहीं है) को उन्होंने चतुरायाम "अंतराल" के उपयोग के रूप में प्रस्तुत किया है, उसमें इन चारों दृश्य-प्रतीकों (अथवा आयामों?) में से द्वितीय तथा तृतीय को स्थान नहीं मिला है; वह तो केवल प्रथम और चतुर्थ पर आधारित है।

मैंने अपने लेख में कहा था कि देवनागरी में कुछ प्रकार की कमियों का निर्देश इस कारण लोग करते हैं कि वे "जाने-अनजाने रोमन लिपि के सिद्धांत से प्रभावित" हो जाते हैं। श्रीवास्तव ने जो दृश्य-प्रतीक बनाये हैं, उनमें देवनागरी की आशंसा करते हुए भी वे रोमन लिपि के सिद्धांत से प्रभावित हो गये हैं। जिस प्रकार एक व्यक्ति धोती की निन्दा करते हुए कह सकता है कि उसमें पाजामे के अमुक-अमुक तत्वों की कमी है, उसी प्रकार कोई उसकी प्रशंसा करते हुए कह सकता है कि पाजामे के सभी अंग धोती में समाविष्ट दिखाये जा सकते हैं। वह धोती का चित्र बनाकर उस पर पाजामे के विभिन्न भागों की आकृति भी उकेर सकता है। दोनों के दृष्टिकोण में पाजामा छाया हुआ है। कहना यह चाहिए कि धोती धोती है और पाजामा पाजामा है। दोनों में साम्य यह है कि दोनों वस्त्र हैं, दोनों का प्रयोग अधोवस्त्र के रूप में होता है, दोनों की अपनी-अपनी श्रेष्ठताएँ हैं। लेकिन धोती सम्मिलित रूप से ऊर्ध्ववस्त्र और अधोवस्त्र का भी काम देती है; कभी-कभी वह ऐसे पहनी जाती है कि सिर से पैर तक ढक लेती है। वह ओढ़ी और बिछाई भी जा सकती है। उसमें सामान भी बाँधा जा सकता है। देवनागरी में क और ड एक-एक सरल इकाई हैं, लेकिन श्रीवास्तव ने स्वर-व्यंजन को अलग-अलग प्रदर्शित करने के

रोमन साँचे वाले दृश्य-प्रतीकों में इन्हें ढाल दिया है जिससे इन्हें 'सरल इकाइयों' के रूप में चित्रित नहीं किया गया है। 'क' उनके प्रथम दृश्य-प्रतीक में आता है जिसे उन्होंने "मूल" प्रकार का दृश्य-प्रतीक कहा है; लेकिन चित्र में व्यंजन और स्वर दोनों के चिन्ह प्रस्तुत किये गये हैं। सरल इकाई के लिए यह मिश्र चित्रण देवनागरी और रोमन का घोल ही है। व्यंजन के लिए उन्होंने "सी" (कान्सोनेन्ट) अक्षर तथा स्वर के लिए 'वी' (वॉवेल) अक्षर का प्रयोग किया है। हम इन्हें क्रमशः हल् तथा अच् से निर्दिष्ट करें तो कह सकते हैं कि रोमन साँचे में ही पड़ताल करनी हो तो अच् की प्रस्तुति क्रमिकता की दृष्टि से उन्होंने ठीक की है क्योंकि प्रमुखतम (=मोटा और अछिन्न) अच् मूलाक्षरों के लिए है, सामान्य (=पतला और अछिन्न) अच् मात्राओं के लिए है और गौणतम (=पतला और छिन्न) अच् निहित स्वर ("अ" की काल्पनिक मात्रा) के लिए है जिसका उच्छेद किसी स्वर की मात्रा लगते ही हो जाता है। लेकिन उच्चारणात्मक मानदंड पर यह प्रस्तुति ठीक नहीं है क्योंकि मात्रा द्वारा निर्दिष्ट स्वर और मूलाक्षर द्वारा निर्दिष्ट स्वर के उच्चारण में कोई भेद नहीं है। बात लेखन की है, इसलिए लेखन की यथार्थता की दृष्टि से देखें तो जिन्हें मूल स्वराक्षर कहा गया है, उनके लिए सामान्य प्रस्तुति-प्रणाली वांछित थी; दूसरों के लिए गौण, गौणतर प्रणाली अपनाना उचित था। मूल स्वराक्षरों के लिए प्रयुक्त अच् में मोटाई का तत्व जोड़ना इस तथ्य के प्रतिकूल रहा है। श्रीवास्तव के दृश्य-प्रतीकों में सामान्य (पतली) अछिन्न रेखा में हल् का अस्तित्व ही नहीं है; क्या श्रीवास्तव के साँचे में मूल व्यंजनाक्षर की कोई आकृति है ही नहीं? जो देवनागरी में आधे व्यंजन हैं, वे रोमन सिद्धांत के अनुसार पूर्ण स्वनिम हैं; लेकिन श्रीवास्तव ने उन्हें पतली छिन्न रेखा में हल् कहा है और जो देवनागरी में पूर्ण व्यंजन हैं (जो रोमन सिद्धांत के अनुसार व्यंजन+अ हैं), उनमें हल् का निर्देश श्रीवास्तव ने अछिन्न रेखा से ही नहीं किया है बल्कि उसमें मोटाई का तत्व भी जोड़ दिया है। इससे स्पष्ट है कि छिन्नता—अछिन्नता, मोटेपन-पतलेपन की भेदकता का उपयोग करते हुए भी उन्होंने एक भेदकता के लिए दो भेदक तत्वों का मिश्रण कर दिया है। यही नहीं, जो हल् प्रथम दृश्य-प्रतीक में अछिन्नता और मोटाई से समन्वित है (जिसकी पृष्ठभूमि में 'अ' विद्यमान है), वह कोई स्वर-मात्रा जुड़ते ही (चौथे दृश्य-प्रतीक में) इन दोनों तत्वों से वंचित हो जाता है। प्रकृत स्थिति यह है कि इनमें अच् का स्वरूप बदलता है (जो श्रीवास्तव ने बदला भी है), हल् तो वही रहता है। उसे भी दो तत्व नीचे गिरा देना घोल-मेल के दृष्टिकोण से आया हुआ दोष है। द्वितीय दृश्य-प्रतीक इस दृष्टि से भी अशुद्ध है कि वर्णात्मक आधारवाली लिपि होने के कारण खंडित व्यंजन उसकी इकाई ही नहीं हैं, इकाइयों के घटक-मात्र हैं; लेकिन श्रीवास्तव ने उनके लिए पृथक् दृश्य-प्रतीक बनाया है। दूसरे, हलन्त व्यंजन

में उच्चारणात्मक उपलब्धि तो मात्र-व्यंजन की होती है लेकिन उसकी प्रस्तुति में तो प्रथम दृश्य-प्रतीक में भी कुछ और (=हलन्त चिन्ह) जोड़ना चाहिए था : इसके लिए द्वितीय दृश्य-प्रतीक अशुद्ध है। तीसरे, 'अ' के लोप के लिए कई बार किसी अन्य व्यंजन का चिन्ह पूर्ण व्यंजनाक्षर में लगा देना पर्याप्त होता है जिससे उस चिन्ह द्वारा निर्दिष्ट व्यंजन का आविर्भाव ही नहीं होता बल्कि आधार व्यंजन से निहित स्वर का लोप भी हो जाता है। उदाहरणार्थ, 'ह्रास' के 'ह्र' में 'ह' का पूर्ण व्यंजनाक्षर लिखा गया है; लेकिन उसमें 'अ' है नहीं। 'अल्प' का 'ल' तो द्वितीय दृश्य-प्रतीक में प्रतिबिम्बित है; परन्तु 'ह्रास' का 'ह' उसमें प्रतिबिम्बित नहीं है। एक ही दृश्य-प्रतीक के भीतर के पारस्परिक अनुपात के अनौचित्य का उदाहरण चतुर्थ दृश्य-प्रतीक में है जिसमें "प्रमुख" व्यंजन छिन्न रेखा में प्रस्तुत हुआ है और "गौण" स्वर (मात्रा-रूप) अछिन्न रेखा में।

घोल-मेल के दृष्टिकोण का ही प्रभाव है कि श्रीवास्तव ने 'अ' की शून्य मात्रा स्वीकार करने की बात कही है जो देवनागरी में है ही नहीं। सैद्धांतिक रूप से 'अनस्तित्व' तथा 'शून्य का अस्तित्व' दो पृथक्-पृथक् परिकल्पनाएँ हैं।

यदि किसी शोधकर्ता का लक्ष्य दृश्य-प्रतीक या चित्र बनाना ही हो तो उसे यह ध्यान रखना चाहिए कि देवनागरी के अपनी आधारभूमि पर किए गए चित्रांकन में मूल इकाई वर्ण* होनी चाहिए, स्वनिम (स्वर या व्यंजन) नहीं। वर्णों में व्यंजनाक्षर सरल इकाई हैं। इनमें 'अ' स्वर निहित होता है। अन्य प्रकार की व्यंजनयुक्त प्रस्तुतियों में कुछ चिह्न जुड़ते हैं और कोई कार्य सिद्ध करते हैं; उदाहरणार्थ हलन्त चिह्न 'अ' स्वर का लोप कर देता है, स्वर-मात्राएँ 'अ' का लोप भी करती हैं और कोई स्वर-ध्वनि जोड़ती भी हैं, कोई व्यंजन-

---

* अर्थात् (१) अ, इ, उ, ऋ, ए स्वराकृतियाँ तथा क से ह तक व्यंजनाकृतियाँ सरलाक्षर हैं।

(२) आ, ई, ऊ, ॠ, ऐ, ओ, औ स्वराकृतियाँ तथा का, कि, कु आदि मिश्राक्षर हैं।

(३) ा, ि, ु आदि मात्राएँ तथा ल, ब, द आदि खंडित व्यंजन बद्धाक्षर हैं।

(४) ल् और 'ल' भाषायी मूल्य में समान हैं, लिपि-व्यवहार में भिन्न हैं (प्रथम का प्रयोग शब्दान्त में संभव है, द्वितीय का नहीं) और आकृति-स्तरण की दृष्टि से प्रथम मिश्राक्षर है जबकि द्वितीय बद्धाक्षर है।

चिह्न या व्यंजनाक्षर जुड़ता है तो पूर्ववर्ती 'अ' ध्वनि का लोप भी करता है और अपनी ध्वनि-सत्ता स्थापित भी करता है। व्यंजनाक्षर-खंड व्यंजनाक्षर में जिस स्थान पर जुड़ते हैं, उसका भी महत्व है क्योंकि उसी से यह निर्धारित होता है कि उनके अपने मूल स्वर का लोप होता है या उनके आधार-व्यंजनाक्षर का। उदाहरणार्थ 'क' में गोलाकृति के बाएँ 'ल' जुड़ने पर एक प्रक्रिया होती है, गोलाकृति के नीचे जुड़ने पर दूसरी। स्वरों के बारे में विचार करते हुए ध्यान रखना होगा कि उनमें चिन्ह-निर्धारण की कई परतें हैं। उदाहरणार्थ, ु, ू, ृ, ॄ आदि स्वतंत्र मात्राएँ हैं; लेकिन पूर्ण स्वराक्षरों में भीतरी मात्रा-विधान भी है जिसे अनदेखा करना अप्रामाणिक होगा। अ-आ, इ-ई, उ-ऊ, ऋ-ॠ, ऌ-ॡ, ए-ऐ, ओ-औ युग्मबद्ध स्वराक्षर हैं। प्रत्येक युग्म का दूसरा स्वराक्षर पहले का दीर्घ रूप है (अन्तिम दो युग्मों पर यह बात 'ऐतिहासिक' दृष्टि से लागू होती है) और दीर्घता के लिए कोई भीतरी मात्रा लगाई गई है। इस प्रकार 'ा' चिन्ह यहाँ भी दीर्घता का चिन्ह है, सरल व्यंजनाक्षरों के बाद भी (या 'अ' के लोप का नियम यहाँ भी लागू करने के लिए 'आ' के संबंध में अन्य प्रकार का वक्तव्य देना होगा)। छोटी 'इ' पर लगा हुआ ि चिन्ह 'ई' में दीर्घताबोधक है जो केवल उसी के साथ लगता है, व्यंजनाक्षरों में 'इ' की तथा उसकी दीर्घता-बोधक मात्रा नहीं जुड़ती, दीर्घ 'ई' की ही एक मात्रा जुड़ जाती है। यही बात 'उ-ऊ' पर लागू होती है। इसके अतिरिक्त 'उ' को दीर्घ करने वाली मात्रा 'र' के दाईं ओर लगती है तो युग्म के ह्रस्व सदस्य का मूल्य जोड़ती है; यदि दीर्घ सदस्य का मूल्य जोड़ना अभिप्रेत हो तो 'रु' में भी दीर्घ 'ऊ' की वह मात्रा दाईं ओर जोड़नी पड़ती है (= रू) जो व्यंजनाक्षरों में नीचे जोड़ी जाती है। 'ए' में शिरोरेखा के ऊपर कोई चिन्ह नहीं है, इसलिए उसके दीर्घ रूप के लिए एक चिन्ह 'े' पर्याप्त है। लेकिन व्यंजनाक्षरों के ऊपर 'ए' की मात्रा के लिए यही चिन्ह लगाया जाता है, इसलिए वहाँ उसके दीर्घ रूप के लिए दो चिन्ह 'े' जोड़ने पड़ते हैं। 'ओ-औ' की मात्राओं में वितरण का ऐसा भेद-मिश्रण नहीं है। श्रीवास्तव ने स्वरों के मात्रा-विधान के इस आन्तरिक वैविध्य पर भी ध्यान नहीं दिया है।

संयुक्त व्यंजनों की बात भी लोग कम समझते हैं। दो व्यंजनों की संयुक्ताकृति यदि कुछ भिन्न हो चलती है तो उसे अलग से सिखाना आवश्यक हो जाता है। देवनागरी वर्णमाला में 'क्ष*, त्र, ज्ञ' संयुक्ताक्षर इसी भाव से जोड़े

* इस अक्षर के बाएँ भाग का ऊर्ध्वांश काल-क्रम से लुप्त हो गया तो अक्षर की आकृति रह गई 'क्ष' जो उक्त अक्षर की वैकल्पिक आकृति के रूप में प्रचलित है। 'क्' और 'ष' की आकृतियों का इसी क्रम में योग करने से धीरे-धीरे किस प्रकार 'क्ष' बनता है, इसे अभ्यास करके समझा जा सकता है।

जाने लगे थे। कालक्रम से अन्य संयुक्ताकृतियाँ भी इस लक्षण के अंतर्गत आने लगीं, लेकिन रूढ़िवश उन्हें सूचीबद्ध नहीं किया गया। उपर्युक्त तीनों संयुक्ताक्षरों में 'त्र' और 'ज्ञ' क्रमशः त्+र तथा ज्+ञ हैं; इसे आकृति-साम्य से जाना भी जा सकता है। 'त' का नीचे आता हुआ अर्धगोलाकार कुछ ऊपर ही ठिठक जाता है और 'ज' के बाएँ छोर पर 'ञ' का पूर्वार्ध लक्षित होता है जैसेकि 'क' के बाएँ नीचे भाग में 'ल' या 'व' का पूर्वार्ध जुड़ता है। किन्तु ऐसे ही छोटे-छोटे भेद अन्य संयुक्ताक्षरों में भी मिलने लगे हैं। उदाहरणार्थ, द्+य के लिए 'द्य' में 'द' का निचला भाग 'य' के ऊपरी भाग से सघनतापूर्वक जुड़ गया है। यही स्थिति 'श्र' की है। हिन्दी के एक अध्यापक ने एक बार मुझसे पूछा कि यह 'श्री' क्या है; न यह स्वरों में परिगणित है, न व्यंजनों में। मैंने उन्हें बताया कि 'ी' मात्रा हटाने से 'श्र' संयुक्त व्यंजन बच रहता है और सारे संयुक्त व्यंजन तो देवनागरी में परिगणित नहीं हैं।† लेकिन बाद में एक विद्वान् का मत एक पुस्तक में पढ़ा कि 'नियमितता' लाने के लिए 'श्र' के बजाय 'श्र' लिखना आरंभ कर देना चाहिए। किसी विद्वान् लेखक में ऐसी भ्रांति मुझे आश्चर्यजनक लगी। प्र, त्र, म्र आदि में 'र' के लिए जो चिन्ह लगा है, वही 'श' में लगाना 'नियमितता' की दृष्टि से आवश्यक है, यह बात वे नहीं समझ सके या फिर 'श्र' में यही हुआ है, यह पहचानना उनके वश में नहीं रहा क्योंकि इसमें 'श' का पूर्वार्द्ध अपनी धुरी पर पूरा-का-पूरा दाहिनी ओर नीचे से कुछ ऊपर उठ जाता है।

अन्त में मैं यही कहना चाहूँगा कि मुझे यह देखकर संतोष हुआ है कि श्रीवास्तव ने जो मूल स्थापनाएँ स्वीकार की हैं, वे तात्विक दृष्टि से पूर्णतः वही हैं जो मेरे लेख में थीं।

† क्र, त्र और क्त का परिगणन भी देवनागरी वर्णमाला में नहीं कराया जाता।

देवनागरी लेखन

उच्चरित भाषा के सन्दर्भ में फ़र्दिनांद द सस्यूर ने 'लांग' और 'परोल' नामक दो भिन्न-भिन्न अवधारणाओं की स्थापना की थी। अँगरेज़ी में इन दोनों अवधारणाओं के लिए उपर्युक्त शब्दों का आदान कर लिया जाता है अथवा 'लैंग्वेज' और 'स्पीच' के रूप में इनका अनुवाद कर लिया जाता है। हिन्दी में इनके लिए 'भाषा' और 'वाक्' शब्दों का प्रयोग प्रायः रूढ़ हो चला है; इन दोनों संस्कृत शब्दों की अपनी अर्थगत भारतीय परम्परा इस सन्दर्भ में ध्यान में नहीं रखी जाती।

लिखित भाषा के सन्दर्भ में उपर्युक्त अवधारणाओं के समानान्तर मैंने 'लेखन' और 'लिखाई' नामक अवधारणाएँ प्रस्तावित और सीमांकित की थीं।* सस्यूर के सन्दर्भ से पृथक् होकर इस विषय में विचार करते हुए इस निबन्ध में मैं तीन अवधारणाएँ प्रस्तुत कर रहा हूँ—लेखन, लिखावट और लिखाई। इन तीनों शब्दों का प्रयोग हिन्दी में अपने-अपने अर्थों में प्रचलित है। उन अर्थों का नियमन करते हुए आवश्यकतानुसार यादृच्छिक रूप से सीमांकित विस्तार का निर्देश मैं निम्न प्रकार करना चाहूँगा :—

१. *लेखन* :—उच्चरित भाषा का दृश्य प्रतिरूप जो मानव-निर्मित यादृच्छिक आकृतियों के माध्यम से व्यक्त होता है। यह सम्पूर्ण व्यवस्था को समाहित करनेवाली अवधारणा है। इस सन्दर्भ में प्रयुक्त होनेवाली यह व्यापकतम अवधारणा सर्वाधिक भावानीत भी है। उच्चरित भाषा की कितनी बड़ी इकाई के लिए आकृति-निर्माण हो, आकृति का तात्त्विक स्वरूप कैसा हो, आकृतियों को किस प्रकार योजित किया जाय, आदि प्रश्न लेखन के प्रश्न हैं। इस अवधारणा की चर्चा हम विस्तार से आगे करेंगे।

उपर्युक्त परिभाषा के सम्बन्ध में इतनी बात यहाँ कह देना उचित होगा कि हम 'लेखन' शब्द का प्रयोग यहाँ उस व्यापक अर्थ में कर रहे हैं जिसमें मुद्रण, टंकण और चक्रलेखन आदि हस्तलेखन से भिन्न प्रक्रियाएँ नहीं मानी जाएँगी : ये सब लेखन में समाविष्ट हैं। टंकण-यंत्र आदि वही आकृतियाँ दृश्य-पटल पर उकेरते हैं जो मानव-निर्मित हैं। यदि कोई आकृति किसी

*देवीशंकर द्विवेदी; देवनागरी : एक पुनर्दृष्टि; इस संकलन का दूसरा लेख।

कारण नियम-च्युत हो जाती है तो हम उसे काट-छाँटकर ठीक करते हैं। स्पंदग्राह और चित्रग्राह आदि स्वचालित यंत्र उच्चरित भाषा के दृश्य प्रतिरूप तो प्रस्तुत करते हैं किन्तु उनकी आकृतियाँ किन्हीं मानव-निर्मित यादृच्छिक नियमों का पालन नहीं करतीं। न उनके नियम-च्युत होने का प्रश्न उठता है, न उन्हें काट-छाँटकर ठीक करने का प्रश्न उठता है। वे तो जिस तरह अंकित होनी होती हैं, स्वयमेव अंकित हो जाती हैं। उनकी प्रामाणिकता स्वयंसिद्ध होती है। अतएव स्पंदग्राह और चित्रग्राह की प्रस्तुतियाँ हमारे उपर्युक्त 'लेखन' में नहीं सम्मिलित हैं।

२. *लिखावट* :—लेखन के लिए निर्धारित आकृतियों के स्वरूप के विविध आयामों में स्वीकार्य विकल्पों का क्षेत्र-विस्तार। देवनागरी का उदाहरण लेते हुए विचार करें तो जो आकृतियाँ सीधी और खड़ी बनाने का विधान है, उन्हें दाईं ओर झुकाते हुए भी लिखा जा सकता है और बाईं ओर झुकाते हुए भी। अक्षराकृतियाँ चाहे सीधी खड़ी हों, चाहे दाएँ झुकी हुई और चाहे बाएँ झुकी हुई, वे लेखन-व्यवस्था के धरातल पर अभिन्न तथा लिखावट के धरातल पर भिन्न-भिन्न मानी जाएँगी। अक्षराकृतियाँ विशेष रूप से गोलाई लिए हुए या तिकोनी आकृति में बनाई जायँ, लम्बी या छोटी बनाई जायँ, साज-सज्जा कैसी हो और कहाँ स्थापित की जाय, शिरोरेखा लगाई जाय या नहीं, अक्षराकृतियाँ सुडौल हों या बेडौल—ये सारे प्रश्न 'लिखावट' से संबंधित हैं, 'लेखन' इनसे असम्पृक्त व्यवस्था है। इसका अर्थ यह नहीं है कि एक लेखन में अनेक लिखावटें ही सम्मिलित हो सकती हैं; एक लिखावट में अनेक लेखन भी आ सकते हैं। उदाहरणार्थ, देवनागरी और रोमन क्रमशः हिन्दी तथा अँगरेज़ी में पाए जानेवाले 'लेखन' हैं, दोनों के अक्षरों को बाईं ओर झुका देने से दोनों की लिखावट एक हो चलती है, दाईं ओर झुका देने से वह दूसरी हो चलती है, किसी विशेष साज-सज्जा से समन्वित होकर वह तीसरी लिखावट हो चलती है। इस प्रकार लिखावट के धरातल पर दो भिन्न लेखन एक हो जाते हैं जबकि एक ही लेखन भिन्न-भिन्न हो जाता है :—

	लिखावट-१	लिखावट-२	लिखावट-३
लेखन-१→	देवनागरी	देवनागरी	देवनागरी
लेखन-२→	रोमन	रोमन	रोमन

ध्यान रहे कि 'लिखावट' भी लेखन-व्यवस्थाओं के सन्दर्भ में प्रयोज्य अवधारणा है अर्थात् मुद्रण, टंकण और चक्रलेखन आदि में उसकी स्थिति है,

स्पंदग्राह तथा चित्रग्राह आदि के प्रसंग में नहीं। यों ही साज-सज्जा के लिए उकेरी गई रेखाओं (अल्पना आदि) में 'लिखावट' विद्यमान नहीं है।

३. *लिखाई* :—लेखन का कोई भौतिक प्रयोग। लेखन और लिखावट तो भावानयन के धरातल की अवधारणाएँ हैं, 'लिखाई' नितान्त स्थूल धरातल की अवधारणा है। किसी भी प्रसंग में सचमुच कुछ लिखना 'लिखाई' की बात है। एक ही अक्षराकृति एक शब्द में दो बार आए तो वह 'लिखाई' के धरातल पर भिन्न-भिन्न है। यह अलग बात है कि लिखाई के किसी प्रसग-विशेष में एक ही अक्षर की दो लिखाइयों में परस्पर लिखाई के धरातल पर तुलना की जा सकती है।

इसमें लेखन के उपकरणों का महत्त्व होता है। व्यक्ति लिख रहा है या मुद्रणालय या टंकण-यंत्र—इनका पहला, दूसरा या तीसरा—कौन-सा प्रयत्न है, आदि। स्याही कौन-सी है, स्याही है या कार्बन? काग़ज़ पर लिखा है या स्लेट पर या रेत में पैर से लिखाई की गई है? मुद्रण-यंत्र में भी एक प्रति में स्याही कम दूसरी में अधिक लग सकती है; अक्षराकृति प्रत्येक बार थोड़ा-सा घिस जाती है। काग़ज़ अलग-अलग होता है, अलग-अलग गुण का भी हो सकता है।

लिखाई फीकी भी हो सकती है और चटक भी। स्याही या पानी के धब्बे लिखाई को कभी-कहीं क्षति पहुँचाते हैं। लिखाई किसी निश्चित काल-खंड में बँधती है अर्थात् ५ मिनट की लिखाई या १० मिनट की लिखाई।

तीनों अवधारणाएँ परस्पर संबंधित हैं। लिखाई ही हमें लेखन और लिखावट से परिचत कराती है। लेखन न हो तो न लिखावट मिलेगी, न लिखाई संभव होगी। किसी-न-किसी लिखावट के बिना न लेखन अवतरित होगा, न लिखाई हो पाएगी। अक्षर मोटे हैं या पतले, बड़े हैं या छोटे, यह प्रश्न लिखावट का है। यदि 'कनक' सरीखा शब्द एक ही लिखावट में लिखने का निर्णय करें तो 'क' अक्षर लिखाई के धरातल पर अनिवार्यतः दो बार अलग-अलग होगा (लिखावट भी निर्णय के प्रतिकूल अनचाहे अलग-अलग हो जाना असंभव नहीं है); दोनों की 'लिखाई' की तुलना करके उनमें समानता खोजना संभव है जो अंततः उनके एकत्व की खोज है (यद्यपि उनका पूर्ण एकत्व अनिवार्यतः असंभव है)। जब लिखाई देखकर हम लेखक को पहचानने का प्रयत्न करते हैं अर्थात् यह जानने का प्रयत्न करते हैं कि कोई लिखाई हमारे एक मित्र की है या दूसरे की अथवा दो लिखाइयाँ किसी एक ही अपरिचित व्यक्ति की हैं या दो अलग-अलग व्यक्तियों की तो हम 'लिखावट' का ही सहारा लेते हैं। कहा जाता है कि प्रत्येक

व्यक्ति की अपनी कोई-न-कोई विशिष्टता उसकी लिखाई में आ जाती है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक व्यक्ति की अपनी विशिष्ट 'लिखावट' होती है जो लिखावट के बारे में किए गए सामान्य निर्णयों (मोटा लिखना और दाहिने झुकाकर लिखना, इत्यादि) के बावजूद अलग ही झलक जाती है।

यहाँ हम लेखन के धरातल पर लिपि-विषयक विचार करेंगे। मैं अन्यत्र यह कह चुका हूँ* कि किसी भी लेखन-व्यवस्था के निर्माण में सर्वप्रथम विचारणीय प्रश्न यह होता है कि भाषा-व्यवहार की कितनी बड़ी इकाई के लिए प्रत्येक अक्षर या लिपि-चिह्न का निर्माण किया जाए। यदि कोई वक्ता दो घंटे भाषण देकर चला जाय और उसके सम्पूर्ण भाषण को हम किसी एक अक्षर से व्यक्त कर दें तो लेखन में अपूर्व सुविधा होगी। दो-दो घंटे के दस भाषण कुल दस अक्षरों में अंकित हो जाएँगे। न लिखने में श्रम, न लेखन-उपकरणों की विपुलता की आवश्यकता। लेकिन किसी एक अक्षर को पढ़ना (अर्थात् उसे देखकर उससे सम्बद्ध दो घंटे का भाषण सुना जाना) असंभव है। ऐसा कोई अक्षर दूसरे लोग तो पढ़ ही नहीं सकते; जिसने उसे लिखा है, वह भी नहीं पढ़ सकता। वस्तुतः ऐसे अक्षर अनन्त होंगे जो अनन्त काल तक बनते रहेंगे क्योंकि कोई भाषण दुबारा उसी रूप में नहीं दिया जाता (टेप या ग्रामोफ़ोन का रिकार्ड बार-बार बजाना या कोई रटा हुआ गीत बार-बार गाना अलग बात है)। भाषा-व्यवहार की सबसे बड़ी इकाई दो घंटे का भाषण ही नहीं होता, रामचरितमानस-सरीखा कोई महाकाव्य भी हो सकता है जिसके पाठ में २४ घंटे का या इससे भी अधिक समय लग जाय। प्रोक्ति अपेक्षाकृत छोटी इकाई है लेकिन प्रत्येक प्रोक्ति के लिए एक अक्षर का निर्माण भी अनन्तता और असंभवता के उन्हीं लक्षणों से समन्वित प्रस्ताव है। भाषिकों ने प्रायः वाक्य को भाषा की बृहत्तम इकाई माना है। वाक्य प्रोक्ति की तुलना में बहुत छोटी इकाई है और व्याकरण के धरातल पर सचमुच एक इकाई के रूप में सहज ही अभिज्ञेय होने के साथ-साथ सुगमतापूर्वक विश्लेषणगम्य भी है। लेकिन प्रत्येक वाक्य के लिए भी एक अक्षर का निर्माण उसी प्रकार और उन्हीं कारणों से असंभव है। यही वक्तव्य वाक्य से छोटी इकाइयों—उपवाक्य तथा पदबंध पर लागू होता है।

पदबंध से छोटी इकाई है शब्द की। प्रत्येक भाषा में शब्दों की संख्या विपुल होती है लेकिन असंख्य नहीं होती। शब्दों का परिगणन शब्दकोशों में मिलता भी है। जो लोग शब्दकोशों में सम्मिलित शब्द-राशि को संदर्भित भाषा की पूरी प्रामाणिक शब्द-राशि न मानना चाहें, वे उसमें इच्छानुसार काट-छाँट कर सकते हैं; लेकिन शब्द किसी भी दशा में असंख्य नहीं हो पाएँगे। फलतः

* देवीशंकर द्विवेदी; देवनागरी और हिन्दी; इस संकलन का पहला लेख।

प्रत्येक शब्द के लिए एक अक्षर का निर्माण सिद्धांतत: संभव है, लेकिन व्यावहारिक रूप में इसमें कठिनाई है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति को उतने अक्षर सीखना एक दुस्साध्य कार्य है जितने शब्द संबंधित भाषा के शब्दकोश में उपलब्ध हैं या होंगे। शब्द से छोटी इकाई है मर्षिम जो लघुतम अर्थद्योतक इकाई है और जिसकी संख्या प्रत्येक भाषा में उसके शब्दों की अपेक्षा कम होती है। मर्षिमों के लिए अक्षरों का निर्माण शब्दों के लिए अक्षर-निर्माण की अपेक्षा कुछ अधिक व्यावहारिक है। चीनी लिपि का मूल आधार मार्षिमिक ही है। मार्षिमिक लिपि में भी अक्षरों की संख्या बहुत बड़ी होगी।

अर्थद्योतक इकाइयों को छोड़कर यदि हम भाषा के मात्र उच्चारण-पक्ष की इकाइयाँ लें तो हमें एक इकाई मिलती है वर्ण ('सिलेबिल') की। यदि किसी भाषा में पाए जाने वाले सारे वर्णों के लिए अलग-अलग अक्षर बनाए जायँ तो उनकी समग्र राशि 'संपूर्ण' तथा 'शुद्ध' वर्णमाला होगी। उसमें वर्णों के अलग-अलग घटकों का साम्य प्रदर्शित करने वाले अंशों का अभाव होगा। उदाहरणार्थ, नीचे प्रथम स्तंभ में दिए गए वर्णों के लिए उनके सामने द्वितीय स्तंभ में दिए हुए अक्षरों का निर्माण इसी कोटि में आएगा :—

क	o
का	+
कि	†
क्रि	*
किम्	‡
स्कि	△

उच्चारण-पक्ष के सीमान्त पर मिलने वाली भौतिक इकाई है स्वन की जिसे अनेक उच्चारण-लक्षणों की समकालिक प्रस्तुति के रूप में देखा जा सकता है। इन उच्चारण-लक्षणों को हम स्वन-तत्त्व कह सकते हैं। उदाहरणार्थ, [क्] स्वन में चार स्वन-तत्व हैं :—स्पर्श+कंठ्य+अघोष+अल्पप्राण। ऐसी मान्यता है कि हम जो ध्वनि एक बार बोलते हैं, बिल्कुल वही ध्वनि दुबारा कभी नहीं बोल पाते। उच्चारण के इतने सूक्ष्म भेदों को सुन पाना या जान पाना संभव नहीं है, इसलिए संभव सीमा तक भेदों का अभिज्ञान करके स्वनों का निर्धारण किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, क्-ध्वनि किसी भाषा में एक या दो-तीन स्वनों के रूप में बोली जाती पाई जा सकती है। उसके लिए उतने ही स्वनों की उपस्थिति स्वीकार करना उचित और पर्याप्त होगा।

लिपि-निर्माण के संदर्भ में हम जिस प्रकार बृहत्तम से लघुतम तक आए हैं, उसी प्रकार इस दिशा में और बढ़ना संभव नहीं है। स्वनतत्वों का विचार उसी लघुतम बिन्दु पर दूसरी दिशा में है। पहली से दूसरी दिशा की विपरीत दिशा में स्वन पर आधारित भावानीत इकाइयाँ आती हैं—क्रमश: स्वनिम (जो कई स्वनों में से प्रसंगानुसार किसी-न-किसी का प्रतिनिधित्व करता है) और मर्षस्वनिम (जो कई स्वनिमों में से प्रसंगानुसार किसी-न-किसी का प्रतिनिधित्व करता है)। स्वयं स्वन किसी-न-किसी स्वनिम के सदस्य और उसी की भौतिक प्रस्तुति होते हैं। इसलिए स्वन संस्वन ही होते हैं। इस परिप्रेक्ष्य में स्वनिम और मर्षस्वनिम स्वन से बृहत्तर नहीं माने जाने चाहिए, अन्य परिप्रेक्ष्यों की बात अलग है।

लिपि निर्माण की इस समग्र स्थिति को निम्न प्रकार आरेखबद्ध किया जा सकता है :—

स्वन-तत्व
↑
पाठ → प्रोक्ति → वाक्य → उपवाक्य → पदबंध → शब्द → मर्षिम → वर्ण → स्वन →
↓
स्वनिम
↓
मर्षस्वनिम

अभी तक हम संयोजनमूलकता की दृष्टि से लिपि-निर्माण के सैद्धांतिक पक्ष पर विचार कर रहे थे। दूसरी दृष्टि होती है स्थानापत्तिमूलक। इसमें हमें यह देखना होता है कि भाषा की जिस इकाई के लिए हमने अक्षरों का निर्माण किया है, उसके साथ उसका कैसा अनुपात है। उदाहरणार्थ, यदि कोई लिपि स्वानिमिक है तो यह संभव है कि एक स्वनिम के लिए सर्वत्र एक ही निश्चित अक्षर प्रयुक्त हो और उस अक्षर का प्रयोग सर्वत्र उसी स्वनिम के लिए हो, कहीं भी किसी अन्य स्वनिम के लिए न हो (इस स्थिति को १ : १ का अनुपात कहते हैं)। दूसरी ओर यह भी संभव है कि किसी एक ही स्वनिम के लिए कहीं एक अक्षर प्रयुक्त हो तो कहीं दूसरा और उनका वितरण या तो मुक्त विभेद की कोटि का (जैसे अ~ग्र) हो अथवा पूरक बंटन की कोटि का (जैसे इ~ि)। इसी बात का दूसरा पहलू यह होगा कि एक अक्षर कहीं एक स्वनिम के लिए प्रयुक्त हो और कहीं दूसरे स्वनिम के लिए (जैसे अँगरेज़ी में रोमन 'c' कहीं 'स्' होता है, कहीं 'क')। इसका वितरण भी मुक्त विभेद या पूरक बंटन की कोटि का हो सकता है। एक स्वनिम के लिए एकाधिक अक्षरों का संयोजन भी पाया जा सकता है (जैसे 'च्' के लिए 'ch') और

एक अक्षर एकाधिक स्वनिमों के संयोजन के लिए भी पाया जा सकता है (जैसे 'ज्ञ' का प्रयोग 'ग्यँ' के लिए)। कहना न होगा कि संयोजनमूलकता में आदर्श स्थिति १ : १ के अनुपात की है।

लेखन और लेखन-पद्धति के संदर्भ में जो विविध बातें कही जाती हैं, उन्हें स्पष्ट रूप से समझने तथा मूल्यांकित करने के लिए निम्नलिखित संबोधों की पृथक्-पृथक् स्थापना उपयोगी होगी :—

१. ***अक्षरमाला या ककहरा*** :—अक्षरों तथा अन्य लिपि-चिह्नों की तालिका। ये अक्षर किसी भी धरातल पर निर्मित लिपि के हो सकते हैं। जिस अक्षरमाला का निर्माण 'वर्ण' के धरातल पर हो, उसे वर्णमाला भी कहते हैं।

२. ***लिपि*** :—अक्षरों तथा चिह्नों के संयोजन की प्रणाली। अक्षर दाएँ की ओर जुड़ते चलें या बाईं ओर, यह प्रश्न भी 'लिपि' का है। 'र्' का द्योतक चिह्न कहाँ दाएँ लगे, कहाँ ऊपर और कहाँ नीचे, यह प्रश्न भी 'लिपि' का है। यदि क्+क को क्क के रूप में भी लिखा जा सकता है और क्क के रूप में भी तो यह लिपि का दिशागत मुक्त विभेद का उदाहरण है। यदि प में त का योग होता है—और यह योग दो स्थानों पर संभव है (त्प तथा प्त)—तो यह प्रश्न भी 'लिपि' का है। किन्तु यह उदाहरण व्यतिरेक का है, मुक्त विभेद का नहीं क्योंकि इन युग्मों में प्रथम त्+प है जबकि द्वितीय प्+त है। प्त तथा प्त में मुक्त विभेद है।

३. ***लिप्युक्ति*** :—लिपि का भाषायी इकाइयों (उच्चारण-पक्ष पर आधारित लिपि में 'उच्चारण' तथा अर्थ-पक्ष पर आधारित लिपि में 'अर्थ') से संवाद। चूँकि सामान्य प्रयोग में 'लिपि' शब्द इस अर्थ में भी पाया जाता है, इसलिए जहाँ संदिग्धता की संभावना हो, वहाँ और केवल वहीं 'लिप्युक्ति' शब्द का प्रयोग पर्याप्त होगा।

४. ***वर्त्तनी*** :—शब्दों, वाक्यों आदि के लिए अपनाई जाने वाली लिप्युक्ति। वर्त्तनी परम्परा से रूढ़ हो जाती है। लिप्युक्ति के सामान्य नियमों के अनुसार विहित वर्त्तनी रूढ़ वर्तनी से भिन्न भी हो सकती है। उदाहरणार्थ, अँगरेजी में पढ़ना-पढ़ा के लिए प्राप्त शब्दों रीड-रेड के लिए एक ही वर्त्तनी है; दूसरी ओर भिन्न-भिन्न वर्त्तनी वाले शब्दों (so, sow, sew) का उच्चरित रूप एक ही ('सोउ') है। लिप्युक्ति की भाँति वर्त्तनी की चर्चा भी केवल किसी भाषा-विशेष के संदर्भ में संभव है

(अक्षरमाला और लिपि में इस प्रतिबन्ध का लक्षण उपस्थित ही नहीं है), लेकिन लिप्युक्ति से भिन्न वर्त्तनी में शब्द-विशेष का प्रसंग भी अनिवार्य है।

ध्यान रहे कि इन चारों में से प्रत्येक परवर्त्ती संबोध में उसका पूर्ववर्त्ती संबोध सम्मिलित है जबकि किसी भी पूर्ववर्त्ती संबोध में उसका परवर्ती संबोध सम्मिलित नहीं है। उदाहरणार्थ, लिप्युक्ति में लिपि सम्मिलित है (और लिपि में अक्षरमाला सम्मिलित है); किन्तु वर्त्तनी सम्मिलित नहीं है। वर्त्तनी में उसके सभी पूर्ववर्त्ती संबोध भी सम्मिलित हैं।

अब यदि हम देवनागरी लेखन पर विचार करने चलें तो हमारे समक्ष पहला प्रश्न यह होगा कि हम किस देवनागरी की चर्चा कर रहे हैं। यह प्रश्न इसलिए उठता है कि इतिहास-क्रम से देवनागरी के अक्षरों में कुछ परिवर्तन हुए हैं, आज विभिन्न क्षेत्रों में देवनागरी के भीतर कुछ विभेद मिल जाते हैं और संस्थाओं/आयोगों/व्यक्तियों ने देवनागरी में कुछ परिवर्तन सुझाये हैं जिन्हें न्यूनाधिक अंशों में कहीं-कहीं अपनाया भी गया है। इस प्रसंग में हमारा यह निर्णय करना पर्याप्त होगा कि कुछ दशाब्दियों पूर्व तक व्यापक रूप से प्रचलित देवनागरी पर ही हम विचार करेंगे। इसके पहले जाना उसके ऐतिहासिक विकास का विवेचन हो जाएगा जो हमें यहाँ अभिप्रेत नहीं है और इसके बाद आना उन परिवर्तनों में उलझना होगा जो देवनागरी के प्रकृत सदर्भ से स्खलित हैं। यहाँ यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि देवनागरी का प्रकृत सन्दर्भ संस्कृत भाषा है। देवनागरी में अब कभी-कभी परिगणित अक्षर ड़, ढ़, क़, ख़, ग़, ज़, ऑ बाद के हैं जो हिन्दी-सरीखी आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के लेखन-सन्दर्भ में आये हैं। चूँकि इनसे निर्दिष्ट ध्वनियाँ संस्कृत भाषा में नहीं थीं इसलिए ये अक्षर हमारी मूल देवनागरी में नहीं पाये जाते। परम्परावश आज भी देवनागरी अक्षरमाला में उपर्युक्त अक्षरों का परिगणन प्रायः नहीं किया जाता यद्यपि प्रसंग हिन्दी आदि का होता है और हिन्दी भाषा के लेखन में वहीं उपर्युक्त अक्षरों का प्रयोग किया जाने लगता है। कुछ पुस्तकों में इस विसंगति को ध्यान में रखकर उपर्युक्त अक्षरों में से कुछ को अक्षरमाला में भी कहीं जोड़ दिया जाता है जिससे आंशिक पूर्णता अर्थात् अपूर्णता की विसंगति तो बनी ही रहती है, देवनागरी अक्षरमाला की सुव्यवस्थित वैज्ञानिक क्रमबद्धता भी भंग हो जाती है (जो संस्कृत लिप्युक्ति के रूप में विद्यमान रहती है)। इसी प्रकार देवनागरी में किए जाने वाले 'सुधारों' को साधारणतः 'सुधार' कहना उचित नहीं होता क्योंकि गहराई से विचार करें तो वे प्रायः 'बिगाड़' बनकर रह जाते हैं। कोई लिपि जिस भाषा

के संदर्भ में निर्मित होती है, उसके दोष-अदोष की परीक्षा उसी भाषा के सन्दर्भ में उचित है। यदि किसी अन्य भाषा में उस लिपि का प्रयोग होने लगता है तो समस्याएँ आ भी सकती हैं और नहीं भी आ सकतीं। समस्याएँ आने से यह प्रमाणित होता है कि हम लिपि को भाषा का एक भिन्न आधार दे रहे हैं। समस्याएँ न आने से यह प्रमाणित होता है कि इस भिन्न भाषा का आधार लिपि के अपने सन्दर्भ की मूल भाषा के आधार से तत्त्वत: भिन्न नहीं है।

देवनागरी के विभेदों के बावजूद उसे प्रत्येक रूप में 'देवनागरी' कहते रहना रूढ़ि की बात है। चाहें तो एक अक्षर में भी हलका-सा अन्तर आते ही हम लिपि को किसी अन्य नाम से पुकारने लगें; चाहें तो बहुत-से अन्तरों के बावजूद लिपि को एक ही नाम से अभिहित करते रहें। सुविधा की दृष्टि से भिन्नताओं का निर्देश लिपि के नामोल्लेख के साथ प्रसंगानुसार कर देना समीचीन होता है। कितने अन्तर तक लिपि का एक ही नाम चलता रह सकता है और कितने अन्तर के बाद नाम बदलना अनिवार्य हो जाता है, यह निर्विवाद रूप से नहीं कहा जा सकता। अन्तर की नियामक मात्रा के निर्णय की कोई सर्वसम्मत प्रणाली उपलब्ध नहीं है।

यहाँ उस देवनागरी अक्षरमाला को प्रस्तुत कर देना उचित होगा जिसकी चर्चा हम करने जा रहे हैं :

स्वर : अ (अ) आ (आ) इ ई उ ऊ ऋ (ऋ) ॠ (ॠ) ऌ ॡ ए ऐ
ओ (ओ) औ (औ) अं (अं) अः (अः)

मात्राएँ : ा ि ी ु ू ृ ॄ ॆ े ै ो ौ ं ः

व्यंजन : क ख ग घ ङ
च छ ज झ (झ) ञ
ट ठ ड ढ ण (ण)
त थ द ध न
प फ ब भ म
य र ल (ल) व श (श) ष स ह
क्ष (क्ष) त्र ज्ञ

अक्षरमाला के स्तर पर देवनागरी की चर्चा संस्कृत या किसी भी अन्य भाषा की इकाइयों से उसका संबंध जोड़े बिना करनी होगी। फलस्वरूप विवेच्य बिन्दु केवल ये बचते हैं कि

(१) क्या अक्षरों की आकृति सरल है,

(२) क्या उनकी आकृतियों में परस्पर इतना पर्याप्त भेद है कि उनमें पारस्परिक भ्रान्ति की गुंजाइश न रहे,

(३) क्या उनकी आकृतियों में इतना स्वल्प भेद है कि एक मूल आकृति में थोड़े-से हेर-फेर करके भिन्न-भिन्न अक्षर बना लिये जायँ, और

(४) क्या अनावश्यक अक्षरों का अभाव है।

इन बिन्दुओं पर विचार करके ही देवनागरी की अक्षरमाला की श्रेष्ठता का निर्णय करना होगा। मातृलिपि कहकर प्रत्येक बात में उसे सर्वश्रेष्ठ कह देना तर्कसम्मत और निष्पक्ष बात नहीं है। अक्षरमाला के धरातल पर उसमें किसी प्रकार की 'वैज्ञानिकता' की परीक्षा करना भी असंगत है।

जहाँ तक अक्षरों की आकृति की सरलता की बात है, देवनागरी की अक्षरमाला कुल मिलाकर इस लक्षण से समन्वित है। शिरोरेखा से एक खड़ी रेखा खींच देना कदापि जटिल नहीं कहा जा सकता और यह आकृति ('आ' मात्रा की है) देवनागरी में विद्यमान है। पूरी-अधूरी वृत्ताकार आकृतियाँ, उनके युग्म, खड़ी-पड़ी-सीधी-तिर्यक् रेखाएँ, बिन्दु आदि पर्याप्त सरल चिह्न हैं जिनके संयोजनों से उपर्युक्त आकृतियाँ निर्मित हुई हैं। यह अवश्य है कि देवनागरी अक्षरमाला को सरलतम घोषित कर देना न्यायसंगत नहीं है। उसकी कुछ आकृतियों के निर्माण में शिक्षार्थियों को थोड़ी कठिनता होती है। ऋ-ॠ-क्ष आदि ऐसी ही आकृतियाँ हैं। दूसरी ओर, रोमन का उदाहरण लें तो वह भी पर्याप्त सरल अक्षरमाला सिद्ध होती है। कुछ अंशों में उसे देवनागरी से अधिक सरल भी कहा जा सकता है। मात्र गोलाकृति 'ओ' के लिए निर्धारित अक्षर है और सीधी लकीर बड़ी 'आई' तथा छोटे 'एल' के लिए निर्धारित अक्षर हैं। इनसे सरल और कौन-सी आकृतियाँ हो सकती हैं! रोमन के अन्य अक्षर भी जटिल नहीं हैं। ऐसी स्थिति में इतना कहना उचित होगा कि देवनागरी अपेक्षाकृत सरल अक्षरमालाओं में परिगणित होने योग्य है।

दूसरे विवेच्य बिन्दु में भी देवनागरी अधिकांशत: सफल है। उसके अक्षरों में भ्रान्ति न आने देने के लिए पर्याप्त भेद है, यह सिद्ध है क्योंकि व्यवहार में भी उनके पृथक्-पृथक् प्रयोग में कोई उल्लेखनीय समस्या नहीं

भाती पाई जाती। लेकिन उसमें यह अभिलक्षण सर्वांश में विद्यमान नहीं है, यह भी सर्वविदित है। उदाहरणार्थ 'रव' के बीच की दूरी में कमी आने से 'ख' आकृति बन जाती है जो एक भिन्न अक्षर है। 'म' और 'य' में भी परस्पर भ्रान्ति के उदाहरण पाये जाते हैं। 'भ-म' में तथा 'ध-घ' में केवल शिरोरेखा के भंग-अभंग की भूमिका है। चूँकि अन्य प्रसंगों में शिरोरेखा एक समधिक तत्त्व है (जिसके अनुपयोग से कोई अन्तर नहीं पड़ता), इसलिए इन दोनों युग्मों में शिरोरेखा-विषयक चूक भ्रान्ति उत्पन्न कर देती है। इस प्रकार के स्थलों पर देवनागरी अक्षरों का पारस्परिक भेद पर्याप्त नहीं प्रतीत होता।

तीसरा बिन्दु मितव्यय की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। देवनागरी में इसकी उपस्थिति प्रचुरता के साथ पाई जाती है। एक ही अक्षर से कई अक्षर बना लेने के उदाहरण अनल्प हैं :—

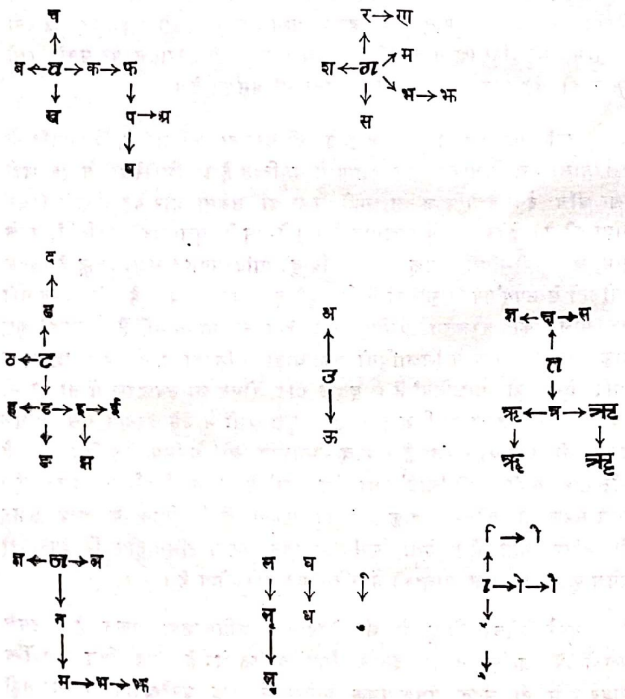

चौथे बिन्दु पर विचार अक्षरमाला के धरातल पर केवल इस सीमा तक संभव है कि क्या किन्हीं आकृतियों में मुक्त विभेद है। पीछे देवनागरी अक्षरमाला में कोष्ठकों में मुक्त विभेद के उदाहरण दिये हैं। मुक्त विभेद के कारण अक्षरों की संख्या अनावश्यक रूप से बढ़ गई है। यह मितव्यय के सिद्धांत के विरुद्ध है। स्मरण रहे कि 'मुक्त विभेद' के नियमबद्ध वितरण के कारण इन अक्षरों की उपस्थिति 'अवैज्ञानिक' नहीं कही जा सकती।

यहाँ यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि देवनागरी अक्षरमाला के उपर्युक्त लक्षण (गुण और दोष) चमत्कारपूर्ण नहीं हैं, ये सभी परम्परागत लेखन-प्रणालियों में प्राप्य हैं। उदाहरणार्थ थोड़ी-सी आकृतियों में साधारण-सा हेर-फेर करके बहुत-से अक्षर प्राप्त करने का लक्षण सभी लिपियों में मिलता है और इसका कारण बहुत सीधा है। मूलाकृतियों के आधार स्वभावतः बहुत कम हैं, इसलिए प्रत्येक लिपि उन्हीं थोड़े-से आधारों पर अपनी मूलाकृतियाँ चुनने के लिए विवश है। सारे अक्षर उन्हीं मूलाकृतियों पर निर्मित होंगे ही। रोमन का उदाहरण लें। उसमें गोलाकृति का छोटा-बड़ा आकार भिन्न-भिन्न प्रसंगों पर प्रयुक्त होने वाले (एक ही भाषायी मूल्य के) दो अक्षर प्रस्तुत करता है। छोटी गोलाकृति में बाहर की ओर अलग-अलग स्थानों पर रेखा जोड़ने से छोटी-बड़ी 'पी', छोटी 'बी, डी, जी' और छोटे 'ए' तथा छोटे 'क्यू' की प्राप्ति हो जाती है। इसी प्रकार गोलाकृति के एक खंड में रेखा खींचकर या घुंडी लगाकर अन्य कई अक्षर बन जाते हैं। गोलाकृति का खंड उसका दाहिना या बायाँ या ऊपर का या नीचे का भाग हो सकता है। ऐसे दो खंडों का संयोजन भी अक्षर-निर्माण में प्राप्त होता है। निम्न चित्र देखें :—

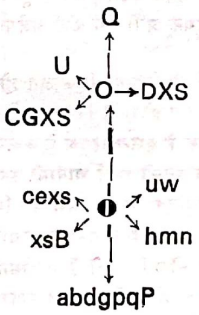

देवनागरी के लिपि-स्तर पर विचार करें तो पहली उल्लेखनीय बात तो यह मिलती है कि यह बाईं ओर से दाईं ओर चलने वाली लिपि है। दूसरी बात यह देखने में आती है कि अक्षरों का संयोजन नीचे की ओर भी उतरता है, उससे न्यून मात्रा में ऊपर की ओर भी जाता है और एक प्रसंग में बाईं ओर भी जाता है। नीचे उतरने के उदाहरण हैं :—

ङ्ग्र=ङ्+ग्+र्+उ

प्तु=प्+त्+उ

ऊपर जाने के उदाहरण हैं :—कै=क+ै=क्+ए

कै=क+ै=क्+ऐ

र्क=र्+क=र्+क

बाईं ओर जाने का उदाहरण है 'इ' की मात्रा :—कि=क+ि=क्+इ.

कभी-कभी विकल्प भी मिलते हैं जिनमें मुक्त विभेद प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ, दाईं ओर चलने या नीचे उतरने के वैकल्पिक रूप हैं :—क्क~क्क। लेकिन ऐसे विकल्प सारे व्यंजनों के प्रसंग में नहीं मिलते।

उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट है कि लिपि-स्तर पर देवनागरी में पर्याप्त जटिलता है। रोमन-सरीखी लिपि इस दृष्टि से अपेक्षाकृत सरल है क्योंकि उसमें सारे अक्षर एक दूसरे के बाद बाईं और दाईं ओर जोड़े जाते हैं। लेकिन इस प्रसंग में भी देवनागरी अवैज्ञानिक नहीं है क्योंकि प्रत्येक अक्षर-संयोग के अपने निश्चित नियम हैं जिनमें मुक्त विभेद अथवा पूरक बंटन के वैज्ञानिक वितरण सम्मिलित हैं; उनके पृथक्-पृथक् प्रयोग में कोई अज्ञेयता या मनमानापन नहीं है।

एक बात देवनागरी लिपि में यह भी लक्षित होती है कि कुछ ऐसे चिन्हों का तथा अक्षरों का प्रयोग उसमें होता है जिनका परिगणन देवनागरी अक्षरमाला में नहीं हुआ है। इनमें से एक है हलन्त। आधे अक्षर तथा ॅ ('ई' में नहीं) भी इसी कोटि में आते हैं। चूंकि इनकी चर्चा भाषायी इकाइयों के संदर्भ में करनी है, इसलिए इन पर लिप्युक्ति के धरातल पर विचार करना उचित होगा। यहाँ इतना कह देना पर्याप्त है कि देवनागरी अक्षरमाला में न सीखी हुई बहुत-सी बातें देवनागरी लिपि में सीखनी होती हैं। रोमन-जैसी लिपियों में तो केवल एक छोटी-सी बात यह सीखनी होती है कि एक अक्षर से दूसरा अक्षर जोड़ने के लिए बीच में रेखा कहाँ से और किस प्रकार उठाई जाती है।

लिप्युक्ति के धरातल पर देवनागरी की परीक्षा संस्कृत भाषा के सन्दर्भ में न्यायसंगत है इसलिए हम उसी सन्दर्भ में देवनागरी पर विचार करेंगे।

कई बार लोग देवनागरी अक्षरमाला में अक्षरों की क्रम-व्यवस्था की अतिशय प्रशंसा करते हैं और उसमें लिपि की लगभग सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिकता के दर्शन करते प्रतीत होते हैं। वस्तुतः यह उसका अत्यन्त साधारण पक्ष है। लिपियों के सन्दर्भ में वस्तुतः महत्त्वपूर्ण बात यह होती है कि भाषा की किस इकाई के लिए अक्षरों का निर्माण हुआ है, अक्षरों के संयोजन के नियम कैसे हैं और उन संयोजन-नियमों ने भाषा की प्रकृति को किस प्रकार प्रस्तुत किया है। ये बातें उसी प्रकार की हैं जैसे दैनिक जीवन में हम यह विचार करें कि किसी व्यक्ति के पास कितनी सम्पत्ति है अर्थात् कितने-कितने मूल्य के कितने-कितने नोट और कितने-कितने सिक्के हैं तथा उनसे वह विभिन्न परिस्थितियों में सभी प्रकार के भुगतान करने में समर्थ है या नहीं। इस रूपक में अक्षरों की क्रम-व्यवस्था का वही मूल्य है जो इस बात में है कि क्या उस व्यक्ति ने अलग-अलग मूल्यों के नोटों और सिक्कों की अलग-अलग ढेरियाँ लगा रखी हैं या नहीं और इन्हें नोट या सिक्के के मूल्य के चढ़ते या उतरते क्रम में व्यवस्थित कर दिया है या नहीं। वस्तुतः सिक्कों की ऐसी क्रम-व्यवस्था उस व्यक्ति की सुरुचि की परिचायक है, इससे अधिक कुछ नहीं। लिपि-प्रयोग में अड़ल्ले से अक्षरों का उपयोग करने वाला व्यक्ति उस धनी व्यक्ति की तरह है जो अपेक्षित नोटों और सिक्कों के संयोजन खटाखट निकालकर देता जाता है, उनकी क्रमिक ढेरियाँ चाहे लगी हों चाहे नहीं। देवनागरी की अक्षर-व्यवस्था सुरुचिपूर्णता के अतिरिक्त लिपि-विषयक और कोई योग-दान नहीं करती। हाँ, उससे व्यवस्थापकों के स्वनविज्ञानी होने का प्रमाण अवश्य मिलता है जो काल-दृष्टि से ज्ञानोत्कर्ष का एक महत्वपूर्ण उद्घोष है। सबसे पहले स्पर्श व्यंजन पाँच-पाँच के पाँच वर्गों में दिये गये हैं। ये वर्ग उच्चारण-स्थान की दृष्टि से क्रमशः पीछे की ओर से आगे की ओर आते हैं : कवर्ग कंठ्य है, चवर्ग तालव्य, टवर्ग मूर्धन्य, तवर्ग दन्त्य और पवर्ग ओष्ठ्य। प्रत्येक वर्ग में घोष और प्राण की दृष्टि से व्यंजनों का स्थान निर्धारित है : प्रथम दो व्यंजन अघोष हैं; वर्गान्त के तीनों व्यंजन सघोष हैं तथा द्वितीय व चतुर्थ व्यंजन महाप्राण हैं; प्रथम, तृतीय और पंचम व्यंजन अल्पप्राण हैं। वर्गान्त का पंचम व्यंजन अनुनासिक है। स्पर्श व्यंजनों के बाद अन्तःस्थ और ऊष्म आते हैं। इन्हें भी पीछे की ओर से क्रमशः आगे बढ़ने के क्रम से व्यवस्थित किया गया है। स्वरों में मूल स्वर अ (तथा दीर्घ रूप आ) के बाद आद्योपान्त ह्रस्व-दीर्घ के क्रम से अग्र-पश्च मूल स्वर, फिर पीछे से आगे की ओर का क्रम अपनाते हुए शेष दो मूल स्वर ऋ, ऌ और अन्त में अग्र-पश्च द्विस्वर दिये गये हैं।

पीछे की ओर से आगे आने का क्रम भी स्वनवैज्ञानिक दृष्टि से नैसर्गिक क्रम है क्योंकि ध्वनियाँ बाहर जाती हुई श्वास से बनती हैं जो पीछे से आकर आगे की ओर चलती है। अघोष व्यंजनों का पहले आना भी साभिप्राय है क्योंकि सघोष व्यंजनों में घोष का अतिरिक्त तत्व जुड़ा होता है और छोटी गिनती पहले आती है, उसमे कुछ जोड़कर बनाई गई गिनती बाद में। इसी प्रकार अल्पप्राण-महाप्राण का क्रम नैसर्गिक है क्योंकि 'महाप्राण' में अतिरिक्त प्राण-शक्ति जुड़ी होने के कारण अल्पप्राण के बाद परिगणित होने का लक्षण आ जाता है। सघोष व्यंजनों में अन्तिम स्थान अनुनासिक के लिए ही उचित है क्योंकि उसमें मौखिकता और घोष के अतिरिक्त अनुनासिकता का एक अतिरिक्त तत्व जुड़ा होता है जो भीतर से बाहर की ओर आती हुई भाषायी श्वास को मुख-विवर की अपेक्षा और ऊपर ले जाकर नासा-विवर में पहुँचाता है।

स्वरों की क्रमबद्धता भी इसी प्रकार तर्कसम्मत है। 'अ' कंठ्य स्वर है इसलिए उसका सबसे पहले आना उचित है। उसके बाद 'इ' अग्रस्वर और तब 'उ' पश्च स्वर के परिगणित होने से क्रम-भंग की शंका हो सकती है क्योंकि अग्र से फिर पश्च की ओर लौटने का आभास होता है; किन्तु वास्तविकता यह है कि 'अग्र' और 'पश्च' उस पाश्चात्य शब्दावली के अनुवाद हैं जो स्वर-चतुष्कोण पर आधारित है। वस्तुतः 'इ' तालव्य स्वर है जबकि 'उ' ओष्ठ्य स्वर है। अर्थात् यहाँ भी क्रम पीछे से आगे की ओर बढ़ने का है।

लिप्युक्ति के धरातल पर ही अक्षरमाला की चर्चा करते हुए हम अक्षरों की आकृति की वैज्ञानिकता और नैसर्गिकता की बात कर सकते हैं। किसी ने दावा किया है कि देवनागरी अक्षरों की आकृति के खिलौने, बर्त्तन या घरौंदे बनाये जायँ और उनसे वायु को तेजी से गुजारा जाय तो उन अक्षरों से निर्दिष्ट ध्वनियाँ सुनाई देंगी। यह दावा निराधार है और इस पर कोई प्रयोग किया जा रहा हो तो जागरूक रहकर मनोरंजन के लिए उसका दर्शक बनना भर उचित है। जहाँ तक 'धुन' की बात है, वह तो अक्षरों की आकृति पर निर्भर ही नहीं है। बाँसुरी, हारमोनियम आदि इस बात के प्रमाण हैं जिन पर हम 'धुनें' सुनते हैं। इन प्रसंगों में अक्षरों की उच्चरित ध्वनि सुनना अलग, अविश्वसनीय और काल्पनिक बात है।

किसी भी स्वन-विषयक धरातल पर बनाई हुई लिपि में स्वनिम को महत्व देना श्रेयस्कर है क्योंकि स्वनिम अपने प्रकार की लघुतम इकाई है जो भाषा की अर्थ-भेद की व्यतिरेकी कार्यकारिता में सिद्ध होती है। व्यतिरेक की एकान्त उपादेयता तक सीमित होने के कारण प्रत्येक स्वनिम यादृच्छिक रूप से किसी भी अक्षर या अक्षर-खंड के द्वारा निर्दिष्ट होने के लिए उचित ही स्वतंत्र है।

स्वन-तत्व स्वनिम पक्ष के सीमान्त-बिन्दु हैं; किन्तु उन पर लिपि-निर्माण आधारित होने से कई स्वन-तत्वों की समकालिक प्रस्तुति लिपि में आवश्यक हो जाएगी जिससे विस्तार और जटिलता का तो समावेश होगा ही, समकालिक स्वन-तत्वों की समकालिकता का वैज्ञानिक तथ्य भी उपेक्षित हो जाएगा। फलस्वरूप स्वनिमों के भौतिक प्रतिरूपों (=स्वनों) की जाँच पड़ताल करने के बजाय यह अवश्य किया जा सकता है कि स्वनिमों के लिए यादृच्छिक अक्षर निर्धारित करने के बजाय स्वन-तत्वों के लिए यादृच्छिक चिह्न निर्धारित कर लिये जायँ और उनके नियमित संयोजन से स्वनिमाक्षर बनाये जायँ। उदाहरणार्थ, हम निम्न-लिखित यादृच्छिक निर्णय कर सकते हैं:

(१) गोलाकृति :—स्पर्श व्यंजन।
(२) गोलाकृति पर नीचे क्रमांक-६ तक उल्लिखित किसी परिवर्तन का अभाव :—कंठ्य।
(३) गोलाकृति पर खिंची आड़ी रेखा :—तालव्य।
(४) गोलाकृति के बाएँ पार्श्व पर खड़ी रेखा :—मूर्धन्य।
(५) गोलाकृति के नीचे खिंची आड़ी रेखा :—दन्त्य।
(६) गोलाकृति के नीचे लगा हुआ शून्य :—द्वयोष्ठ्य।
(७) उपर्युक्त छहों आकृतियों में किसी निम्नलिखित तत्व का अभाव :—अल्पप्राण अघोष।
(८) गोलाकृति को शिरोरेखा से जोड़नेवाली रेखा में दाहिनी ओर छोटी आड़ी रेखा जो अन्त की ओर नीचे चली जाय :—महाप्राण।
(९) गोलाकृति में विभाजक रेखा :—घोष।
(१०) गोलाकृति को शिरोरेखा से जोड़नेवाली रेखा पर दाईं ओर शीर्षासीन त्रिकोण :—अनुनासिक।

इनके नियमित संयोजन से हमें निम्नलिखित अक्षर प्राप्त होंगे :—

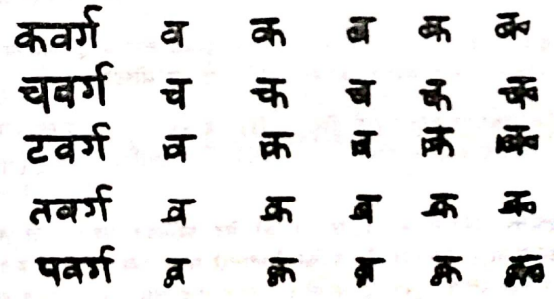

स्पष्ट है कि देवनागरी अक्षरों का निर्माण ऐसे सिद्धांतों पर नहीं हुआ है। उसके अक्षरों में पाए जाने वाले कुछ साम्यों में ध्वनिगत मूल्य का वैषम्य निम्न प्रकार पाया जाता है :—

१.	दाहिनी ओर छोटी आड़ी रेखा जो अन्त में झुककर नीचे चली जाती है	(i)	प→फ	अल्पप्राण→महाप्राण
		(ii)	व→क	सघोष ओष्ठ्य अन्तःस्थ →अघोष कंठ्य स्पर्श
		(iii)	भ→झ	द्वयोष्ठ्य→तालव्य
		(iv)	उ→ऊ	ह्रस्व→दीर्घ
२.	शिरोरेखा का खंडित हो जाना	(i)	घ→ध	कंठ्य→दंत्य
		(ii)	म→भ	अनुनासिक→महाप्राण स्पर्श
३.	चारों ओर से घिरे भाग में विभाजक रेखा खींचना	(i)	प→ष	द्वयोष्ठ्य स्पर्श→मूर्धन्य ऊष्म
		(ii)	व→ब	अन्तःस्थ→स्पर्श
४.	नीचे छोटी खड़ी रेखा जुड़ना	(i)	ड→इ	मूर्धन्य व्यंजन→तालव्य स्वर
		(ii)	ढ→द	महाप्राण मूर्धन्य→अल्प प्राण दन्त्य
५.	बाएँ-दाएँ के अंशों को बीच में छोटी आड़ी रेखा के द्वारा जोड़ना	(i)	ग→म	कंठ्य स्पर्श→द्वयोष्ठ्य अनुनासिक
		(ii)	रा→स	आ-पूर्व सघोष वर्त्स्य लुंठित→अघोष दन्त्य ऊष्म
६.	बाद में खड़ी रेखा खींचकर उपर्युक्त प्रक्रिया संपादित करना	(i)	इ→झ	स्वर→महाप्राण व्यंजन
		(ii)	उ→अ	ओष्ठ्य→कंठ्य
७.	शिरोरेखा पर उठकर दाईं ओर गोलाई से जानेवाला चिह्न	(i)	इ→ई	ह्रस्व→दीर्घ
		(ii)	ॅ (कॅ आदि)	+र् (+क आदि)

उपर्युक्त उदाहरणों में अक्षराकृति का जो भेद ध्वनिगत मूल्य में जो कोई परिवर्तन लाता है, उस परिवर्तन के लिए देवनागरी अपने अक्षरों की आकृति में वह भेद कहीं अन्यत्र प्रयुक्त नहीं करती। 'र' के बाद लिखे 'ब' को यदि बहुत

समीप ला दिया जाय तो एक अन्य अक्षर 'ख' बन जाता है; दूरी की न्यूनाधिकता के इस उपयोग का कोई अन्य उदाहरण देवनागरी में नहीं मिलता। 'ड' के बाद एक शून्य जोड़ने से एक भिन्न अक्षर 'ड़' बन जाता है; शून्य का यह उपयोग देवनागरी में कहीं अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। 'ट' के अर्धवृत्त को पूर्ण वृत्त बनाकर उसका महाप्राण रूप 'ठ' प्राप्त किया जाता है लेकिन अन्यत्र ऐसी पद्धति नहीं मिलती। सघोष प्रतिरूप प्राप्त करने के लिए 'ट' के नीचे विपरीत अर्धवृत्त जुड़ता है; यह पद्धति कहीं अन्यत्र नहीं अपनाई जाती। 'ट' के नीचे एक घुंडी का उपयोग करने से उसका सघोष महाप्राण प्रतिरूप 'ढ' बन जाता है; घुंडी का उपयोग देवनागरी अन्यत्र नहीं करती। 'ण' में 'र' की आकृति विद्यमान है, लेकिन इस अन्तर का कोई ध्वनिगत उपयोग देवनागरी में अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। देवनागरी में अन्यत्र प्राप्त न होने वाले इसी प्रकार के अन्य प्रयोग हैं— शिरोरेखा से छोटी खड़ी रेखा का बाईं ओर नीचे उतरना (दन्त्य 'न' →द्वयोष्ठ्य 'म'), नीचे बाईं ओर से एक तिर्यक् चिह्न जुड़ना (मूर्धन्य स्पर्श 'ड'→कंठ्य ऊष्म 'ह'), बाईं ओर छोटे वामोन्मुख वृत्त का तथा उसके नीचे दक्षिण-पश्चिम जाने वाली रेखा का जुड़ना (अघोष अल्पप्राण अघोष द्वयोष्ठ्य स्पर्श 'प'→कंठ्य स्वर 'अ')। यह भी उल्लेखनीय है कि अ-आ, इ-ई, उ-ऊ इन तीन युग्मों में से प्रत्येक में स्वर की दीर्घता के लिए भिन्न प्रकार का चिह्न जुड़ा है। ए→ऐ में जो भेद लक्षित होता है, वैसे ही ध्वनिगत भेद के लिए अवश्य ही ओ→औ में वही लिपि-भेद भी है; लेकिन यहाँ यह बात द्रष्टव्य है कि 'ऐ' की मात्रा का रूप 'ै' है जबकि स्वयं 'ऐ' में मात्रा का रूप 'े' है। वस्तुतः यहाँ शिरोरेखा के ऊपर लगने वाला चिह्न 'े' सख्यानुसार एक-एक चरण बढ़ने का संकेतक है; इसलिए 'चे' आदि में 'ए स्वर के समावेश के लिए एक चिन्ह 'े' आवश्यक है जबकि 'ए' में वांछित स्वरत्व स्वयं विद्यमान होने के कारण अगले ध्वनिगत चरण के लिए एक चिन्ह 'े' जोड़ना होता है जो उसी अगले ध्वनिगत चरण के लिए 'चे' आदि में जुड़ने पर दो (अर्थात् 'चै' आदि) हो जाता है। इसी प्रकार यह भी यादृच्छिकता की बात है कि 'आ, ओ, औ' का निर्माण 'अ' में मात्राएँ लगाकर हुआ है जबकि 'इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ' का निर्माण इस प्रणाली से नहीं हुआ है; एकरूपता के लिए या तो इनका निर्माण भी 'अ' में मात्राएँ लगाकर (अि, अी, अु, अू, अे, अै) होना चाहिए था या 'आ, ओ, औ' के लिए भी स्वतन्त्र अक्षरों का निर्माण (बिना 'अ' को आधार बनाए) किया जाना चाहिए था।

एक अन्य महत्वपूर्ण बात का उल्लेख यहाँ अक्षराकृतियों के सन्दर्भ में करना उचित होगा। स्वरों में कुछ की तो अपनी मूल आकृतियाँ हैं, कुछ उनमें हेर-फेर करके निष्पन्न हुई हैं। कुछ इनमें भी परिवर्तन करके प्रनिष्पन्न हुई हैं :—

मूल	निष्पन्न	प्रतिष्पन्न
अ	आ	—
इ	ई	—
उ	ऊ	—
ऋ	ॠ	—
ऌ	ॡ	—
ए	ऐ	—
(अ)	ओ	औ

प्रत्येक पंक्ति के युग्म की आकृति से यह स्पष्ट है कि उसके सदस्यों की काल-मात्रा-भेद वाली पारस्परिक गुणात्मक एकता लिपि में स्वीकृत और घोषित है क्योंकि प्रथम सदस्य में कोई चिन्ह लगाकर ही द्वितीय सदस्य बनाया गया है अर्थात् वह चिन्ह ही प्रथम ध्वनि में द्वितीय ध्वनि के लक्षण जोड़ने के लिए उत्तरदायी है लेकिन जब इन अक्षरों की वैकल्पिक आकृतियाँ बनाने की बात आती है (अर्थात् मात्राओं का निर्माण करना होता है), तब ह्रस्व स्वर की मात्रा में कोई चिन्ह जोड़कर उसका दीर्घ प्रतिरूप बनाने की प्रवृत्ति सर्वत्र नहीं मिलती। 'अ' के लिए मात्रा-निर्माण का तो प्रश्न नहीं उठता क्योंकि वह प्रत्येक व्यंजनाकृति में अनिवार्यतः विद्यमान तत्त्व है (इसलिए प्रत्येक व्यंजनाक्षर में 'ा' जोड़ना 'अ' में इस मात्रा को जोड़ना ही है अर्थात् यह मात्रा दीर्घता के लिए व्यंजनाक्षरों में और प्रभाव्य स्वराक्षर में अन्तर नहीं करती)। 'इ' और 'उ' की मात्राओं में कोई चिन्ह जोड़कर इनके दीर्घ प्रतिरूप नहीं बनाये जाते; इसलिए इन चारों मात्राओं को 'मूल' मात्राएँ स्वीकार करना होगा और ये व्यंजनाकृतियों में स्वतंत्र रूप से इसी प्रकार जुड़ती भी हैं। परन्तु रोचक बात यह है कि इनकी आकृतियों को भी साम्य के आधार पर युग्मबद्ध किया जा सकता है (ि तथा ी; ु तथा ू)। ह्रस्व 'इ' की मात्रा व्यंजनाक्षर के बाएँ जुड़ती है तो दीर्घ 'ई' की दाएँ। इसी प्रकार ह्रस्व 'उ' की मात्रा बाएँ मुड़ती है तो दीर्घ 'ऊ' की दाएँ (दोनों ही नीचे जुड़ी हैं—'रू' के अपवाद के साथ किन्तु 'रू' के ह्रस्व प्रतिरूप में तो 'उ' की मात्रा का स्थान ही भिन्न नहीं है, आकृति भी भिन्न है)। यदि 'ि' को ऐसे पलट दिया जाय कि प्रत्यक्ष भाग परोक्ष चला जाय तो यही मात्रा 'ी' बन जाती है। 'ु' को अपनी ही धुरी पर दाईं ओर घुमाते जाया जाय तो यही मात्रा 'ू' बन जाती है। युग्मबद्धता के ये रोचक तथ्य हैं। 'ऋ-ॠ' 'ए-ऐ' और 'ओ-औ' युग्मों की मात्राओं में तो ह्रस्वाकृति में कुछ जोड़कर दीर्घ बनाने की प्रवृत्ति मिलती है :—'ृ'→'ॄ'; 'े'→'ै'; 'ो'→'ौ'। 'ऌ' और 'ॡ' स्वरों की अपनी मात्राएँ नहीं मिलतीं और इसका कारण यह है कि संस्कृत

भाषा में इनके प्रयोग के प्रसंगों का अभाव है। एकमात्र उल्लिखित शब्द है—क्लृप्।

लिप्युक्ति के धरातल पर देवनागरी लिपि-व्यवस्था की चर्चा करने में स्वरों के वैकल्पिक चिन्हों अर्थात् मात्राओं का एक और प्रश्न भी आता है। सतही दृष्टि से या मात्र प्रयोग-सुविधा की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि एक ही ध्वनि के लिए दो आकृतियाँ (एक तो स्वराक्षर, दूसरी उसकी मात्रा) का प्रयोग न तो मितव्यय का उदाहरण है, न वांछनीयता का। लेकिन इस बात को हमें गहराई के साथ जाँचना चाहिए और मानव-भाषा की प्रकृति के परिप्रेक्ष्य में समझने का प्रयत्न करना चाहिए। उच्चारण की लघुतम इकाई है 'वर्ण' ('सिलेबिल') जो नाड़ी के एक स्पंद के तुल्य है। वार्णिक वृत्तों में वर्णों की ही गणना होती है। जो लिपि किसी-न-किसी धरातल (स्वनिक, स्वानिमिक, मर्पस्वानिमिक, वार्णिक) पर उच्चारण को अपना आधार बनाती हो, वह उच्चारण की लघुतम इकाई 'वर्ण' की प्रमुखता को आत्मसात् करे तथा उससे संबंधित सूचनाएँ प्रस्तुत करती चले तो यह उसकी शक्तिमत्ता का प्रमाण है। सारे स्वर वर्ण-न्यष्टि बनते हैं अर्थात् वार्णिक हैं लेकिन जिस वर्ण में वे स्वराक्षर के रूप में लिखे जाते हैं, वह वर्ण स्वराद्य वर्ण होता है और जिस वर्ण में वे मात्रा-रूप में लिखे जाते हैं, वह वर्ण व्यंजनाद्य वर्ण होता है। सभी व्यंजनाक्षरों में 'अ' स्वर अनिवार्यतः उपस्थित रहता है, इसलिए इस स्वर की कोई मात्रा होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इस भूमिका के लिए 'अ' स्वर का चयन भी देवनागरी की वैज्ञानिकता का परिचायक है। 'अ' को मूल स्वर माना गया है। यह 'मूलता' इस बात में नितान्त प्रामाणिक है कि किसी भी उच्चारण के पूर्व वक्ता की जिह्वा अनिवार्यतः 'अ' स्वर की स्थिति में पहुँच जाती है। संस्कृत में व्यंजनान्त वर्ण विरल हैं, इसलिए उनके निर्देश के लिए 'अ' युक्त व्यंजन में 'अ' के लोप के लिए हलन्त-चिन्ह लगाने से कोई झंझट नहीं बढ़ता। खंडित व्यंजन वर्ण में व्यंजन-गुच्छ की उपस्थिति की सूचना देते हैं। इस प्रकार जिस लेखन में कुछ लोग तरह-तरह से व्यंजनों का आगे-पीछे ऊपर-नीचे लदना देखते हैं और इस प्रसंग में रोमन की सरलता तथा वैज्ञानिकता की दुहाई देते हैं, वे यह समझ ही नहीं पाते कि देवनागरी भाषा के उच्चारण-पक्ष की लघुतम इकाई वर्ण का न केवल परिगणन और सीमांकन करा रही है अपितु उस वर्ण के स्वरूप के आन्तरिक विवरण तक प्रस्तुत कर रही है। इस वैज्ञानिकता से इस सीमा तक सम्पन्न कोई अन्य लिपि संसार में नहीं है। हलन्त-चिन्ह यदि शब्दान्त में है तो संबंधित व्यंजन अपने पूर्ववर्ती वार्णिक पर आश्रित होता है, अन्यत्र परवर्ती वार्णिक पर (उदा० कन्, ट्रा)। यह हलन्त द्वारा वर्ण के सीमांकन का नियम है; अपवाद नहीं है।

स्वर–मात्राओं का दाएँ–बाएँ ऊपर–नीचे लगना भी 'अवैज्ञानिक' नहीं है। यह सही है कि इसमें 'एकरूपता' नहीं है लेकिन 'वैज्ञानिकता' और 'एकरूपता' समानार्थी शब्द नहीं हैं। एक द्रव के जो लक्षण होते हैं, उससे मिलते-जुलते सारे द्रवों के वही लक्षण नहीं होते। एक मात्रा जिस स्थान पर लगती है, दूसरी मात्रा का उसी स्थान पर लगना आवश्यक नहीं है। जिस लिपि में वर्ण के आयाम रूपायित हों, उसमें सभी वर्ण–न्यष्टियों के लिए एक ही स्थान सुनिश्चित रहना मूल्यहीन और अनावश्यक हो जाता है। वर्ण-न्यष्टि अपने लिए वर्ण में कहीं भी कोई ठौर ढूंढ़ सकती है। जो लोग कहते हैं कि व्यंजनानुगामी स्वरों का निर्देश करने वाली मात्राएँ अनिवार्यतः व्यंजनाक्षरों के बाद सीधी रेखा में लिखी जानी चाहिए, वे स्वनिमात्मक विचारों से प्रभावित होते हैं। स्वर–मात्रा कहीं लगे, व्यंजन के बाद उच्चरित होती है। अनुस्वार भी स्वर से संबंधित ध्वनि है ('स्वर' का 'अनु'गामी= अनुस्वार'), इसलिए जिस वर्ण पर लगता है, उसके वार्णिक स्वर के बाद उच्चरित होता है। व्यंजनों के लेखन में स्थिति बदल जाती है; चूँकि इन्हें ऊपर से नीचे पढ़ा जाता है, इसलिए शिरोरेखा के ऊपर व्यंजन-चिन्ह (ॅ=रेफ़) होगा तो सबसे पहले पढ़ा जायगा। वहाँ से क्रमशः नीचे उतरा जायगा (द्रं=र्+द्+र)।

मात्राओं का भिन्न-भिन्न स्थानों पर लगना अवैज्ञानिक तो नहीं है, लेकिन इसका वैसा कोई वैज्ञानिक उद्देश्य भी नहीं है जैसा 'आ' और 'ा' की आकृति-भिन्नता का। यहाँ एक बात विचारणीय है। वर्ण में सर्वाधिक शक्तिशाली तत्व होता है उसकी न्यष्टि। वर्ण-न्यष्टि के लिए मात्रा का प्रयोग* होने पर उसका स्थान गौण-सा हो जाता है। एक तो उसकी आकृति अपेक्षाकृत महत्व-हीन दिखती है; दूसरे, व्यंजनाक्षर के इर्द–गिर्द उसे अपना कोई ठौर ढूंढ़ना पड़ता है। प्रश्न यह उठता है कि शक्तिशाली तत्वों को लिपि में गौण स्थान देना और व्यंजनाक्षरों को प्रमुख स्थान देना कहाँ तक तर्कसम्मत है। इसका एक उत्तर तो यह है कि लिपि में इस प्रमुखता या गौणता के प्रदर्शन की कोई तात्विक आवश्यकता नहीं है क्योंकि सम्पूर्ण वर्ण को महत्व देने के बाद इस बात का मूल्य नहीं रहता। दूसरा सैद्धांतिक उत्तर यह है कि जिस प्रकार प्रदर्शन में नींव का महत्व नहीं होता, उसी प्रकार वर्ण-न्यष्टि का भी प्रमुख महत्व न होना स्वाभाविक है। तीसरा व्यावहारिक उत्तर यह है कि यदि मात्राएँ व्यंजनों का निर्देश करतीं तो कई गुनी मात्राओं की आवश्यकता पड़ती।

*मात्रा स्वराक्षर की अपेक्षा भी अधिक शक्तिशाली होती है क्योंकि यह स्वराक्षर का ध्वन्यात्मक मूल्य तो प्रस्तुत करती ही है, उसके पहले संबद्ध व्यंजनाक्षर का 'अ' स्वर लुप्त भी कर देती है।

जब कुछ मात्राओं की आवश्यकता पड़ने पर दाएँ-बाएँ ऊपर-नीचे सभी स्थानों का उपयोग करना पड़ता है, तब कई गुनी मात्राओं के लिए स्थान खोजना कितना कठिन होता, इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है।

मात्राओं के संदर्भ में जटिलता केवल 'इ' की मात्रा की नहीं है जो दाहिनी ओर चलनेवाली लेखन-पद्धति में अपने सबद्ध व्यंजन के बाईं ओर लगाई जाती है, शिरोरेखा पर लगनेवाली 'ि' सरीखी मात्रा भी रेफ़ 'ॅ' के साथ लगकर ऐसी ही स्थिति ला देती है क्योंकि वह रेफ़ के पहले (बाईं ओर) लिखी जाती है लेकिन रेफ़ (+शिरोरेखा के नीचे का व्यंजन) के बाद पढ़ी जाती है। उदाहरणार्थ, 'र्चे' का उच्चारण है 'रेफ़+च्+ए की मात्रा' यद्यपि लेखन में रेफ़ न केवल 'ए' की मात्रा के बाद आता है, अपितु उसके साथ संयुक्त होकर एक इकाई निर्मित करता प्रतीत होता है। स्वीकार करना पड़ेगा कि इससे जटिलता आती है, लेकिन नियमबद्धता के कारण इसमें भी 'वैज्ञानिकता' विद्यमान है।

'इ' की मात्रा व्यंजनाक्षर के बाएँ लगती है तो 'आ, ई, ओ, औ' की मात्राएँ दाएँ लगती हैं। 'ए, ऐ' की मात्राएँ व्यंजनाक्षर के ऊपर लगती हैं तो 'उ, ऊ, ऋ, ॠ' की मात्राएँ व्यंजनाक्षर के नीचे लगती हैं। 'उ, ऊ' की मात्राएँ 'र' व्यंजनाक्षर में जुड़ती हैं तो अनिवार्यतः दाहिनी ओर जुड़ती हैं। यह अपवाद नहीं है, नियम है। इसलिए इस प्रक्रिया में वैज्ञानिकता का अभाव नहीं है।

व्यंजनाक्षरों से 'अ' का लोप करने के लिए हलन्त लगाया जा सकता है। यदि किसी स्वर की मात्रा व्यंजनाक्षर में जुड़ती है तो अपने स्वर की ध्वनि जोड़ने के पहले स्वयमेव व्यंजनान्त 'अ' का लोप कर देती है। तीसरी प्रणाली मिलती है व्यंजनाक्षर का उत्तरांश लुप्त कर देने की; लेकिन इस तथ्य की यह व्याख्या करना ग़लत होगा कि लुप्त उत्तरांश 'अ' का परिचायक है। उत्तरांश के बहुसंख्यक लोप के कारण अनेक विद्वानों को इस ग़लत व्याख्या ने भटका लिया है। या तो वे भ्रमित हो गये हैं या एक सरल दिखने वाली सतही व्याख्या के प्रलोभन में आ गये हैं। वस्तुतः अक्षरों के उत्तरांश के लोप का एकमात्र उद्देश्य यह होता है कि व्यंजनों के परस्पर संयुक्त किये जाने का संकेत किसी प्रकार किया जा सके। यह संयोग की बात है कि परम्परागत रूप से उत्तरांश का लोप इस उद्देश्य के लिए किया जाता है। (व्यंजनाक्षर के उत्तरांश की भाँति उसके उच्चारण में 'अ' स्वर भी उत्तरांश ही होता है, यह एक तथ्य है जो बहुसंख्यक प्रसंगों में उपयोग में आया है।) एक प्रमाण यह है कि ऊपर-नीचे लिखने में किसी अंश का लोप नहीं होता, उच्चारण में ऊपरवाले

व्यंजनाक्षर का 'अ' फिर भी लुप्त हो जाता है (उदा. क्ङ, ट्ठ, ड्ढ)। 'प्र, ब्र' आदि में तो यह शंका हो सकती है कि ये 'प' तथा 'ब' में जुड़े हुए '्र' ('र' का विकल्प) के उदाहरण हैं या 'प' तथा 'ब' में जुड़े हुए '्' के। कोई यह भी कह सकता है कि शिरोरेखा से नीचे उतरनेवाली खड़ी रेखा को व्यंजनों में उभयनिष्ठ ('क्ङ' में भी) मान लिया जाय। लेकिन प्रामाणिक तौर पर निर्णय मिलता है 'ट्ठ', 'ड्ढ' और 'ह्न' जैसे उदाहरणों से, जिनमें नीचे वाला व्यंजन शिरोरेखा से लेकर नीचे तक के अपने पूर्णांश में नहीं पाया जाता (प्रथम दो उदाहरणों में पूर्णाकृति भले ही हो) लेकिन 'अ' उसी का सुरक्षित रहता है। इनमें ऊपर लिखा जाने वाला पूर्णांश व्यंजनाक्षर 'अ' खो बैठता है। यही नहीं, बाएँ से दाएँ चलने वाले व्यंजन-संयोग में भी यदि व्यंजन-संयोग दिखाने का कोई अन्य साधन सुलभ है तो 'अ' के लोप के लिए संबंधित व्यंजन का उत्तरांश लुप्त करना आवश्यक नहीं है। उदाहरणार्थ, 'ट्य' और 'ठ्य' में द्वितीय व्यंजनाक्षर का पूर्वांश लुप्त हुआ है लेकिन फलस्वरूप 'अ' उच्चारण समाप्त हुआ है प्रथम व्यंजन से। निष्कर्ष स्पष्ट है : संयुक्त व्यंजनों में अन्तिम सदस्य का 'अ' (या स्वर-मात्रा लगने पर उस मात्रा से निर्दिष्ट स्वर) सुरक्षित रहता है, 'संयुक्तता' के निर्देश के लिए किसी भी व्यंजनाक्षर का कोई अंश लुप्त होता हो।

संयुक्त व्यंजनों के सन्दर्भ में यह कह देना भी उचित है कि देवनागरी में 'क्ष, त्र ज्ञ' का पृथक् परिगणन वैज्ञानिक नहीं है। वस्तुतः ये 'क्ष', 'त्र' और 'ज्ञ' हैं जो लिखते-लिखते कालक्रम से कुछ स्वतंत्र-सी आकृति ग्रहण कर चुके हैं। इस विकास-क्रम को 'क्ष' में समझना तो कुछ श्रमसाध्य और कल्पनासाध्य है, 'त्र' और 'ज्ञ' में वह बहुत सरल है। 'त' में वही 'र' जोड़ा जाय जो 'प्र' में जुड़ा है और 'ज' के बाईं ओर 'ञ' लगाया जाय जैसे 'प' में 'र' लगाया जाता है (प्र) तो हमारी अक्षराकृतियाँ सामने आ जाएँगी। 'ज्ञ' में यह व्यतिक्रम अवश्य है कि 'ञ' का योग 'ज' में निर्धारित स्थान (जहाँ 'ज्र' में 'र' का वैकल्पिक रूप जुड़ता है) पर नहीं होता, उससे कुछ ऊपर होता है। इन्हीं विकासगत परिवर्त्तनों के कारण ये संयुक्त व्यंजनों की आकृतियाँ देवनागरी वर्णमाला के इतिहास-क्रम में कभी स्वतंत्र रूप से परिगणित की जाने लगीं। ऐसी अन्य अक्षराकृतियाँ भी इसी प्रकार कालक्रम से विकसित हो गई हैं (उदा० 'क्र, क्ष तथा क्त' के लिए वैकल्पिक रूप से क्रमशः 'क्र, क्ष तथा क्त' और इनके अतिरिक्त त्त, श्र तथा द्य) जिनका स्वतंत्र परिगणन वर्णमाला में नहीं होता। संयुक्त व्यंजनों में प्रयुक्त होने वाले कई विकल्प (उदा० 'र' के लिए 'प्र' आदि में '्र', 'ट्र' आदि में '्र' तथा व्यंजन-पूर्व '') वर्णमाला आदि में परिगणित नहीं हैं, लेखन के अभ्यास के क्रम में आगे चलकर इन रूपों से परिचित हुआ जाता है। हलन्त एक अद्भुत चिन्ह है जो 'जोड़ा' जाता है तो कुछ 'घटाने' के लिए।

यह चिन्ह भी कहीं सूची में परिगणित नहीं होता, प्रयोग में पाया जाता है। यह अवश्य है कि यह किसी ध्वनि का सूचक भी नहीं है।

जहाँ तक देवनागरी वर्त्तनी का प्रश्न है, संस्कृत में वह पूर्णतः वैज्ञानिक है। उसमें यदृच्छा के लिए कोई गुंजाइश नहीं है। वर्त्तनी या तो उच्चारण पर आश्रित है या प्रसंगानुसार मर्पवैज्ञानिक गठन (उदा० कायिक, भावुक) पर। यह बात कहने का भी कोई कारण नहीं दिखता कि संस्कृत में मर्पवैज्ञानिक गठन पर आश्रित वर्त्तनी उच्चारण पर भी आश्रित नहीं थी। 'लोकप्रिय'-सरीखे उच्चारण के लिए अपनाई जाने वाली 'लोकप्रिय'-सरीखी वर्त्तनी पूर्णतः नियमबद्ध और तदनुसार वैज्ञानिक है।

देवनागरी की वैज्ञानिकता-अवैज्ञानिकता का विवेचन करने के पूर्व हमें इस लिपि का वैज्ञानिक धरातल ठीक-ठीक समझ लेना चाहिए। देवनागरी अक्षरों की तालिका को वर्णमाला कहा गया है क्योंकि संस्कृत के लिए अपनाई गई इस लिप्युक्ति का प्रत्येक अक्षर वस्तुतः एक वर्ण ('सिलेबिल') होता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि देवनागरी शुद्ध रूप से 'केवल' एक वर्णमूलक लिपि है। 'शुद्ध, संपूर्ण और केवल' वर्णमूलक लिपि में प्रत्येक वर्ण के लिए एक स्वतंत्र अक्षर अपेक्षित होगा; वर्णों के घटकों का साम्य खोजकर किसी एक अक्षरांश, अक्षर या चिह्न का प्रयोग उन घटकों के लिए नहीं किया जायगा।

देवनागरी 'प्रधानतः' एक वर्णमूलक लिपि है क्योंकि उसमें आधार वर्ण को बनाया गया है यद्यपि उसके घटक स्वनिमों के साम्य-वैषम्य का भी लाभ उठाया गया है। इस साम्य-वैषम्य की उपेक्षा करना एक महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक तथ्य की उपेक्षा करना होता। स्वनिम की सत्ता स्वीकार करके अर्थ-भेदकता के स्तर पर लघुतम व्यावहारिक इकाई को पहचाना गया है। यह एक वैज्ञानिक सत्य की उपलब्धि रही है और लिपि-निर्माण में इसकी वांछित उपादेयता भी रही है। दूसरी ओर, भाषा की स्वतः उच्चारण-योग्य लघुतम इकाई 'वर्ण' होती है; इसलिए लिपि को वर्णमूलक आधार देना भी एक वैज्ञानिक सत्य को अंगीकार करना रहा है। इस दृष्टि से हम देवनागरी की अक्षरमाला को 'स्वनिमात्मक वर्णमाला' कह सकते हैं। देवनागरी लेखन स्वानिमिक भी है और वार्णिक भी।

देवनागरी लिपि में हिन्दी वर्त्तनी की अशुद्धियाँ

देवनागरी लिपि में हिन्दी शब्दों की वर्त्तनी में मिलने वाली व्यवस्थागत अनियमितताओं या असंगतियों पर विचार करना इस निबन्ध का उद्देश्य नहीं है। इस निबन्ध के लिए एक विश्वविद्यालय के एम०ए० पूर्वार्द्ध के हिन्दी-विभाग के छात्रों के एक ही विषय पर स्वतंत्र रूप से लिखे गये ३-४ पृष्ठों के निबन्धों का विश्लेषण किया गया है। निबन्धों की संख्या २१ थी। एक ही विषय पर लिखे जाने के कारण त्रुटियों के अन्वेषण के लिए प्राप्त शब्दावली में बहुत-कुछ एकरूपता थी। यदि कोई अंश बोलकर सभी विद्यार्थियों से लिखवाया जाता तो शब्दावली में पूर्ण एकरूपता होती जो एक दृष्टि से अधिक अच्छा होता। दो दृष्टियों से वर्त्तमान निबन्ध के लिए सामग्री प्राप्त करने के लिए अपनाई गई प्रणाली अधिक श्रेयस्कर रही है। एक तो, थोड़ा-बहुत वैविध्य आ जाने के कारण शब्दावली में वृद्धि हो गई है। दूसरे, स्वतंत्र रूप से लिखने के कारण विद्यार्थियों को उस शब्दावली के प्रयोग का अवसर मिला है जो उनके लिए स्वाभाविक बन चुकी है। कोई अंश लिखने के लिए बोला जाता तो उसमें प्रयुक्त शब्दावली लिखना उनकी विवशता हो जाती और विश्लेषण की प्रामाणिकता में इस आधार पर कुछ आँच आ जाती कि प्रयुक्त शब्दावली सभी छात्रों के लिए समान मात्रा में स्वाभाविक नहीं थी; उनके अनुभव तथा अभ्यास के भेद के कारण स्वाभाविकता की मात्रा में भी भेद था।

ऐसी बात नहीं है कि जहाँ वर्त्तनी में व्यवस्थागत अनियमितता, असंगति या शिथिलता मिलती है, वहाँ सभी विद्वान् उदारतावादी दृष्टिकोण अपना लेते हैं और शुद्धता-अशुद्धता का निर्णय देते ही नहीं हैं। उदाहरण के लिए एक ऐसा शब्द लें जिसकी दो वर्त्तनियाँ प्रचलित हैं :—महत्त्व तथा महत्व। सभी समाजों में प्राचीन आदर्श रूप को अधिक सम्मान देने या कम-से-कम उसे स्वीकार कर लेने की प्रवृत्ति मिलती है। हिन्दी समाज के लिए प्राचीन आदर्श रूप संस्कृत का है। वर्त्तनी में भी संस्कृत-रूपों को शुद्ध मानने की परम्परा है; उन्हें अशुद्ध कोई नहीं मानता। दूसरी ओर, हिन्दी की जो वर्त्तनी संस्कृत-सम्मत नहीं है, उसे हिन्दी के संस्कृतज्ञ विद्वान् प्रायः अशुद्ध घोषित कर देते हैं, भले ही वह हिन्दी के किसी भाषिक धरातल पर तर्कसम्मत और शुद्ध हो। जो विद्वान् उसे

शुद्ध घोषित करते हैं, वे या तो हिन्दी के प्रकृति-भेद को समझते हैं और भाषा-विश्लेषण में समर्थ होते हैं या यों ही उदारतावादी दृष्टिकोण से प्रयोग-परम्परा के वैविध्य को स्वीकार कर लेते हैं। जो लोग एकाधिक रूपों को शुद्ध मान लेते हैं, आवश्यक नहीं है कि वे स्वतः उन एकाधिक रूपों का प्रयोग करते हों। 'महत्त्व' संस्कृत-सम्मत वर्त्तनी है, इसलिए वह तो शुद्ध है ही; 'महत्व' हिन्दी के कुछ मूर्धन्य विद्वानों तक में प्राप्त वर्त्तनी है, इसलिए वह भी शुद्ध है।

अब हिन्दी की अपनी प्रकृति के आधार पर इस उदाहरण पर विचार करें। 'महत्त्व' मर्पवैज्ञानिक धरातल की वर्त्तनी है क्योंकि इसमें इस शब्द के गठन (महत्+त्व) का संकेत है। (यदि वह स्वनिक/स्वानिमिक भी है तो यह एक अलग बात है।) प्रकृति के अन्तिम तथा प्रत्यय के प्रथम व्यंजन के योग से 'त्' का द्वित्व प्राप्त होता है जो इस वर्त्तनी में सुरक्षित है। इस दृष्टि से तत्+त्व के लिए 'तत्त्व', स्व+त्व के लिए 'स्वत्व' तथा निज+त्व के लिए 'निजत्व' शुद्ध वर्त्तनी है। मर्पवैज्ञानिक वर्त्तनी के लाभ असंदिग्ध हैं। अँगरेज़ी में 'इसलिए', 'बोना' तथा 'सिलना' अर्थों के लिए 'सोउ' उच्चारणवाले तीन एकाभिधेय मर्पिम मिलते हैं जिनका मार्पिमिक भेद मर्पवैज्ञानिक वर्त्तनी में सुरक्षित है, यद्यपि यह स्थिति हिन्दी के उपर्युक्त उदाहरण से भिन्न है क्योंकि इसमें शब्द-रचना का तत्व विद्यमान नहीं है। हिन्दी में मर्पवैज्ञानिक वर्त्तनी के पक्षधर विचारकों में किशोरीदास वाजपेयी का नाम उल्लेखनीय है। 'लिया' का बहुवचन वर्त्तनी में 'लिये' बनेगा और 'इसलिये' अशुद्ध वर्त्तनी है (शुद्ध है 'इसलिए') क्योंकि वह*'इसलिया' का बहुवचन रूप नहीं है।

भाषा की प्रकृति शक्तिशाली वस्तु है। हिन्दी में ऐसे उदाहरण मिलते हैं जहाँ य-व श्रुतियों के लिए ऐसे नियम नहीं बनते। वहाँ श्रुतियाँ ही नहीं, स्वर भी समाप्त हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, 'लिया' का स्त्रीलिंग रूप न तो 'लियी' होता है, न 'लिई'; वह 'ली' होता है। {-एँ} मर्पिम कुछ धातुओं में जुड़ता है तो उन्हें प्रभावित नहीं करता (उदा० लिख्+एँ=लिखें; जा+एँ=जाएँ), कुछ धातुओं में जुड़कर उनका रूप बदल देता है (उदा० जी+एँ=जिएँ नकि*जीएँ; छू+एँ=छुएँ नकि*छूएँ) जबकि एक ही आप्त रूप वाली धातुओं में भेदभाव भी बरतता है। उदाहरणार्थ :—

ले+एँ=लें (नकि*लेएँ)~लेवें
दे+एँ=दें (नकि*देएँ)~देवें
खे+एँ=खेएँ (नकि*खें)~खेवें

*कल्पित और मिथ्या रूप।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि मर्षवैज्ञानिक वर्त्तनी से सदैव सुविधा की वृद्धि नहीं होती और भाषा के स्वाभाविक तथ्य उससे प्रकट ही नहीं होते हैं, किसी धरातल पर छिप भी जाते हैं।

मर्षस्वानिमिक वर्त्तनी में सरलीकरण मिलता है। मर्षवैज्ञानिक तथ्य उससे उस मात्रा में स्पष्ट नहीं होते। स्वानिमिक-स्वनिक तथ्यों के ज्ञान के लिए कुछ नियम मर्षस्वानिमिक वर्त्तनी में जोड़ दिये जाते हैं। //डाकघर// मर्षस्वानिमिक वर्त्तनी है जिसके स्वानिमिक-स्वनिक मूल्य के लिए दो व्यापक नियम पर्याप्त हैं :–

(१) व्य स्व व्य अ व्य स्व व्य स्व→व्य स्व व्य व्य स्व व्य

(२) //अघोष स्पर्श+सघोष स्पर्श//→/उसी का सघोष रूप+सघोष स्पर्श/

'महत्व' की मर्षस्वानिमिक व्याख्या यह है कि तकारान्त या स्वरान्त प्रकृति के बाद {–त्व} प्रत्यय के 'त्' का स्वानिमिक मूल्य सर्वत्र /त्त्/ होता है जो //त्// मर्षस्वनिम से निर्दिष्ट किया जाता है और इस मर्षस्वनिम के तुरन्त पूर्व यदि तकार है तो उस का लोप हो जाता है। इस दृष्टि से महत्व, तत्व, स्वत्व, निजत्व शुद्ध वर्त्तनियाँ हैं जो हिन्दी के विद्वानों में भी प्रचलित हैं।

'महत्व' को स्वानिमिक दृष्टि से भी शुद्ध सिद्ध किया जा सकता है यदि हम {-त्व} मर्षिम की चर्चा किये बिना शब्द के स्वनिमों के आप्त रूपों पर विचार करके यह स्पष्ट कर दें कि निर्दिष्ट परिवेश में हिन्दी भाषा में /त्/ या वैसा ही कोई अन्य स्वनिम स्वनिक धरातल पर अनिवार्यतः द्वित्व-वाला होता है। पूर्वानुमेय हो जाने के कारण दो में से केवल एक त्' का स्वानिमिक निर्देश ऐसी स्थिति में शुद्ध होगा। इस दृष्टि से महत्व, तत्व, स्वत्व, निजत्व स्वानिमिक वर्त्तनियाँ हो जायेंगी (शब्दान्त 'अ' की स्थिति पर हम यहाँ विचार नहीं कर रहे हैं)। ऐसा न करने पर महत्त्व, तत्त्व, स्वत्त्व, निजत्त्व रूप स्वानिमिक वर्त्तनी में होंगे। वर्त्तनी का यह दूसरा स्वरूप स्वनिक तो है ही। यह रूप चारों शब्दों की वर्त्तनी में समान रूप से अपनाए जाने का कोई उदाहरण नहीं मिलता।

मर्षवैज्ञानिक, मर्षस्वानिमिक, स्वानिमिक तथा स्वनिक वर्त्तनियों में से कौन-सी वर्त्तनी श्रेयस्कर है, कौन-सी नहीं : यह हमारी चर्चा का विषय नहीं है। वर्त्तनी के कितने अंग में इनमें से किस वर्त्तनी का कितने अंशों में उपयोग करना किस दृष्टि से उपयोगी और/या वैज्ञानिक होगा, यह भी इस निबन्ध का विषय नहीं है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि बाह्य धरातल पर वर्त्तनी

का प्रकृतिगत संबंध मर्षस्वानिमिक तथा स्वनिक स्तरों से होता है। मर्षवैज्ञानिक धरातल आन्तरिक है। यदि वर्त्तनी में वह परम्परागत रूप से विद्यमान है तो बात अलग है अन्यथा उसके प्रस्तोता और समर्थक प्रायः वैयाकरण ही होते हैं। शेष शिक्षित समाज वर्त्तनी के शेष तीन धरातलों की ओर उन्मुख रहता है। जिन २१ निबन्धों का विश्लेषण इस लेख के लिए किया गया है, उनमें से ६ ने 'महत्व' शब्द का प्रयोग ही नहीं किया है। १४ विद्यार्थियों ने 'महत्व' वर्त्तनी अपनाई है जिनमें से एक ने वैकल्पिक रूप से 'महत्त्व' वर्त्तनी का भी प्रयोग किया है। शेष १ विद्यार्थी ने उसे 'महत्तव' लिखा है। इस तथ्य से वर्त्तनी की प्रवृत्ति का संकेत मिलता है। यह बात रोचक इसलिए है कि 'महत्व' उनके लिए नितान्त स्वाभाविक शब्द है जिसमें पाई जाने वाली वर्त्तनी की प्रवृत्ति अत्यन्त प्रामाणिक मानी जा सकती है। इस 'स्वाभाविकता' का निर्णय प्रयोक्ता विद्यार्थियों की संख्या से ही नहीं होता, इस बात से भी होता है कि इन विद्यार्थियों ने ऐसे शब्दों की वर्त्तनी में भी अत्यधिक त्रुटियाँ की हैं और भयंकर त्रुटियाँ की हैं जिन्हें हम प्रत्येक दृष्टि से अत्यन्त साधारण शब्द कह सकते हैं। 'तत्त्व' शब्द का प्रयोग कुल ४ विद्यार्थियों ने किया है और चारों ने ही 'तत्व' वर्त्तनी अपनाई है।

एकाधिक वर्णोंवाले शब्दों के अन्त में प्रयुक्त व्यंजन-वर्ण में अकार का लोप उच्चारण में हो गया है। यह हिन्दी की प्रकृति है। संस्कृत वर्त्तनी के प्रभाव से हिन्दी में भी कुछ शब्दों में हलन्त-चिन्ह का प्रयोग चलता जा रहा है। साधारण विद्यार्थी सहज ही कभी-कभी उसे छोड़ जाते हैं। विश्लिष्ट निबन्धों में ४ छात्रों ने 'अर्थात्' के बजाय 'अर्थात' वर्त्तनी अपनाई है। एक ने 'पश्चात्' को 'पश्चात' भी लिखा है।

कुछ सुशिक्षित व्यक्ति 'प्रत्युत' में भी हलन्त चिन्ह लगाते हैं। शायद उनके मस्तिष्क में 'वरन्' का सादृश्य विद्यमान रहता है और यह ध्यान रहता है कि 'प्रत्युत' नितान्त संस्कृत शब्द है (जिसका एक लक्षण हलन्त-चिन्ह है)। यह अतिनागरीकरण की प्रवृत्ति है। एक विद्यार्थी ने एक स्थान पर 'नाट्क' वर्त्तनी दी है। शायद इसका मूल इसी प्रवृत्ति में हो (यद्यपि यहाँ हलन्त-चिन्ह शब्द के मध्य में आया है)।

संस्कृत शब्दों की वर्त्तनी में मिलने वाली एक त्रुटि यह भी है कि उनमें द्वित्व का संकेत सदैव नहीं मिलता। एक-एक विद्यार्थी ने क्रमशः 'वृत्ति' को 'वृति', 'प्रायश्चित्त' को 'प्रायश्चित', 'महत्ता' को 'महता' और 'उद्देश्य' को 'उदेश्य' लिखा है। एक छात्र ने 'अनुभूत्ति' वर्त्तनी अपनाई है जो अतिनागरीकरण का उदाहरण है। 'धनञ्जय', 'धीरोदात्त' और 'तादात्म्य'-सरीखे शब्द बहुत सुकर नहीं हुए हैं; तभी इनके अल्प प्रयोग के बावजूद एक-एक स्थान पर अलग-अलग विद्यार्थियों ने

इनकी वर्त्तनी क्रमशः 'धन्यजय', 'धीरोद्दात' और 'तादात्मय' दी है। 'धन्य', 'उद्दात' ('उद्धत' से मिलता-जुलता) तथा 'मय' के कारण इन तीनों अशुद्धियों की पृष्ठभूमि में लोक-व्युत्पत्ति की कारगुजारी भी दृष्टिगत होती है।

एक-एक स्थान पर 'श्रोत' तथा 'जागृत' वर्त्तनियाँ मिली हैं। लोगों को 'स्रोत' कुछ अपरिचित-सा लगता है जबकि 'श्र' का प्रयोग अनेक शब्दों में मिलता है। इसी प्रकार 'जागृति' शुद्ध ही नहीं, प्रचलित वर्त्तनी भी है; इसलिए 'जागृत' अधिक स्वाभाविक-सा लगा होगा। 'स्रोत' तथा 'जाग्रत' के अभाव का कारण शायद यही है। 'दृष्टि' की वर्त्तनी से प्रभावित होकर दो विद्यार्थियों ने 'दृश्य' को 'दृष्य' तथा 'द्रष्टा' की वर्त्तनी से प्रभावित होकर एक विद्यार्थी ने 'दृष्टि' को 'द्रष्टि' लिखा है।

विसर्ग भी संस्कृत की वस्तु है जो केवल संस्कृत शब्दों में सुरक्षित है, हिन्दी के तद्भव और अर्द्धतत्सम शब्दों में खपी नहीं है। फलस्वरूप उसका लोप भी प्रयोग-शिथिलता में मिलता है। दो निबन्धों में 'प्रायः' के लिए 'प्राय' और एक निबन्ध में 'प्रधानतः' के लिए 'प्रधानता' वर्त्तनी मिली है अर्थात् एक स्थान पर विसर्ग लुप्त हो गया है, दूसरे स्थान पर उसने अपने पूर्वगामी 'अ' स्वर की मात्रा-वृद्धि कर दी है।

बाबूराम सक्सेना ने एक बार सुझाव दिया था कि हिन्दी में प्रत्ययों का योग तो करें किन्तु प्रकृति-परिवर्त्तन में संस्कृत का अनुकरण न करें ताकि सरलता रहे। 'इतिहासिक', 'भूगोलिक' आदि रूपों का प्रयोग भी उन्होंने किया था। एक विद्यार्थी ने 'इतिहासिक' रूप का प्रयोग किया है। सक्सेना के अधिकार से चाहें तो इसे शुद्ध मान लें; किन्तु विद्यार्थी की अन्य अशुद्धियों की मात्रा और प्रकार देखते हुए स्पष्ट है कि उसने सक्सेना के वैदुषिक धरातल पर यह वर्त्तनी नहीं अपनाई है, उसने त्रुटि ही की है। रोचक बात यह है कि थोड़ी ही सही; उलटी गंगा भी बहती हुई दिखने लगी है। अर्थात् अकेले प्रयुक्त होने पर भी इन के परिवर्त्तित संमर्षों के उदाहरण मिले हैं। एक छात्र ने 'पुराण' को 'पौराण' ('पौराणिक' से लेकर) तथा दूसरे ने 'संस्कृति' को 'सांस्कृति' ('सांस्कृतिक' से लेकर) लिखा है।

यदि किन्हीं शब्दों का उच्चारण वर्त्तनी से भिन्न है तो उच्चारणानुरूप वर्त्तनी अपनाने के उदाहरण भी मिलते हैं। दो विद्यार्थियों ने 'वह' और 'यह' के लिए क्रमशः 'वो' तथा 'ये' वर्त्तनी अपनाई है। एक विद्यार्थी ने 'ये' के लिए 'यह' वर्त्तनी अपनाई है। यह तथ्य भी मूलतः उसी प्रवृत्ति का द्योतक है क्योंकि विद्यार्थी उच्चारण में एकवचन तथा बहुवचन दोनों में ही 'ये' रूप का प्रयोग

करता है; अन्तर केवल इतना है कि वर्त्तनी में वह 'यह' का अभ्यास पर्याप्त कर चुका है। एक विद्यार्थी ने बोलीगत रूप के आधार पर 'छबी' वर्त्तनी अपनाई है, एक ने पंजाबी के प्रभाव से 'स्पष्ट' को 'सपष्ट' लिखा है और एक ने हरियाणी 'हुया' का प्रयोग 'हुआ' के लिए किया है।

हिन्दी की प्रकृति ऐसी है कि कुछ स्थलों पर हलन्त चिन्ह नहीं लगाया जाता यद्यपि 'अ' का उच्चारण नहीं होता है। ऐसे स्थलों पर 'अ' स्वर को त्यागकर या उसे सुरक्षित रखते हुए दो-दो वर्त्तनियाँ भी शिक्षित-समाज में मान्य हैं। उदा० बालटी~बाल्टी, मिलकियत~मिल्कियत, विद्वान~विद्वान्। हमारे विद्यार्थियों ने इस नियम को कुछ ऐसे शब्दों पर भी लागू किया है जिनकी वर्त्तनी में दोनों विकल्प स्वीकृत नहीं हैं। एक-एक विद्यार्थी ने एक-एक स्थान पर 'व्यस्तता', 'पाश्चात्य' और 'जनता' की वर्त्तनी क्रमशः 'व्यसतता', 'पाशचात्य' और 'जन्ता' दी है।

वर्त्तनी के विकल्पों में श्रुतिहीन रूप अधिक लोकप्रिय हैं, किन्तु कुछ व्यक्ति श्रुतिवान् रूपों का प्रयोग भी करते हैं। उदाहरणार्थ, हमारे विद्यार्थियों के निबन्धों में एक-एक स्थान पर क्रमशः 'के लिए', 'घटनाएँ', 'विधाओं' तथा 'हुआ' के लिए 'के लिये', 'घटनायें', 'विधायो' तथा 'हुया' वर्त्तनियाँ प्राप्त हुई हैं। यदि 'हुया' बोलीगत है तो हरियाणी का है, यह बात ऊपर कही जा चुकी है।

जो ध्वनियाँ उच्चारण में समान हैं और जिनके निर्देशक लिपि-चिन्ह वर्णमाला में प्रायः पास-पास आते हैं, उनमें एक के स्थान पर दूसरे के प्रयोग की प्रवृत्ति भी थोड़ी-बहुत मिलती है। एक विद्यार्थी ने अल्पप्राण के लिए महाप्राण का ('गदर' के लिए 'गधर') और दूसरे ने महाप्राण के लिए अल्पप्राण का ('प्रधान' के लिए 'प्रदान') प्रयोग किया है। एक छात्र ने 'अद्भुत' को प्रत्येक बार 'अदभुद' लिखा है। एक अन्य छात्र ने प्रत्येक बार 'अर्थात्' को अर्ताथ' लिखा है। विपर्यय का यह अकेला उदाहरण मिला है। एक छात्र ने 'परिलक्षित' को 'परिलखित' लिखा है; पता नहीं 'क्ष' उसके लिए कठिन लिपि-चिन्ह था और 'लिखित' के सादृश्य ने उसे प्रभावित किया अथवा 'लक्षित' के तद्भव रूप 'लखित' का ध्यान उसे था। मुझे पहली संभावना अधिक जान पड़ती है।

व-ब में लेखाकृति-साम्य भी है और ध्वनि-साम्य भी। इनमें भी भ्रान्ति मिलती है। भाषा में भले ही 'व' के स्थान पर 'ब' आ जाता हो, वर्त्तनी में 'ब' के स्थान पर 'व' का प्रयोग मिलने की प्रवृत्ति है। व→ब का अकेला उदाहरण छवि→छबी मिला है; किन्तु इसके बोलीगत होने की संभावना का संकेत ऊपर

किया जा चुका है। 'बड़ा' दो स्थानों पर 'वड़ा' रूप में आया है। एक स्थान पर 'बहुत' का रूप 'वहुत' तथा दो स्थानों पर 'बनाया' का रूप 'वनाया' प्राप्त हुआ है।

स्वरों में तथा उनकी मात्राओं में ह्रस्व-दीर्घ में परस्पर भ्रान्ति के उदाहरण निम्न प्रकार मिले हैं :—

इ के स्थान पर ई

मध्य में

अतिरीक्त←अतिरिक्त	१ बार*
पौराणीक←पौराणिक	"
काल्पनीक←काल्पनिक	"
एतिहासीक←ऐतिहासिक	"
कालीदास←कालिदास	"

अन्त में

रुची←रुचि	२ बार
रूची←रुचि	१ बार
छबी←छवि	"
की←कि	"
प्राप्ती←प्राप्ति	"

ई के स्थान पर इ

मध्य में

राजनितिक←राजनीतिक	१ बार
उल्लेखनिय←उल्लेखनीय	२ बार
पिछे←पीछे	१ बार

अन्त में

सम्बन्धि←सम्बन्धी	१ बार
वाणि←वाणी	"
हि←ही	"
पश्चिमि←पश्चिमी	"

उ के स्थान पर ऊ

मध्य में

रूची←रुचि	१ बार
मूसलमान←मुसलमान	"

अन्त में

भारतेन्दू←भारतेन्दु	२ बार

ऊ के स्थान पर उ

आदि में

उब←ऊब	१ बार

मध्य में

रुप←रूप	७ बार
रुपक←रूपक	२ बार
अनुरुप←अनुरूप	१ बार
जरुर←जरूर	२ बार
सहानुभुति←सहानुभूति	१ बार

अन्त में

शुरु←शुरू	१ बार

* इन विवरणों में १ बार का अर्थ १ निबन्ध में है।

ए के स्थान पर ऐ

मध्य में

कलैक्टर←कलेक्टर	१ बार

अन्त में

मैं←में	१ बार
विधाऐं←विधाएँ	"

ऐ के स्थान पर ए

आदि में

एतिहासिक←ऐतिहासिक	१ बार
एतिहासीक←ऐतिहासिक	"

ओ के स्थान पर औ

मध्य में

दौनो (~दोनो)←दोनों	१ बार
कौई←कोई	"
समस्याऔ←समस्याओं	"
परम्पराऔ←परम्पराओं	"

जिन लिपि-चिन्हों की आकृति परस्पर मिलती-जुलती है, उनमें लिखने की असावधानी के कारण भ्रान्ति हो जाती है। प्राप्त उदाहरण निम्नलिखित हैं :—

ध←घ	धटनाओं←घटनाओं	१ बार
←द्य	गध←गद्य	"
घ←ध	मघ्य←मध्य	"
	प्रघानता←प्रधानता	"
	सम्बन्घी←सम्बन्धी	"
ढ़←ढ़	बढ़ती←बढ़ती	"
भ←म	भूनि←मुनि	"

इनमें बढ़ती←बढ़ती की प्राप्ति 'बड़ा' शब्द के सादृश्य पर भी संभव है। जहाँ तक भ और म का संबंध है, एक छात्र ने सारे निबन्ध में एक-दूसरे में भ्रान्ति की है। स्पष्ट है कि शिरोरेखा वह खींच देता है; किन्तु उसका कोई मूल्य उसकी दृष्टि में नहीं है यद्यपि देवनागरी में कुछ लिपिचिन्हों का भेद शिरोरेखा की उपस्थिति-अनुपस्थिति पर ही आधारित है। यह प्रवृत्ति कहीं भी शिरोरेखा न खींचने की प्रवृत्ति के समानान्तर है।

ऐसे उदाहरण भी मिले हैं जिनमें विद्यार्थियों ने मात्रा-चिन्हों का प्रयोग किया है; किन्तु असावधानी अथवा अज्ञानवश यथास्थान नहीं किया है। इनमें 'रेफ़' के उदाहरण सर्वाधिक हैं। प्राप्त रूप निम्नलिखित हैं :—

'ॅ' का प्रयोग उचित स्थान से पहले

आर्चाय (~आचार्य)	←आचार्य	१ बार
आर्कषण	←आकर्षण	"
अर्न्तगत	←अन्तर्गत	२ बार
प्रर्दशित	←प्रदर्शित	१ बार
पुर्नविवाह	←पुनर्विवाह	"

'ॅ' का प्रयोग उचित स्थान के बाद

दुदर्श	←दुर्दशा	१ बार

'न्' का प्रयोग उचित स्थान से पहले

आन्नद (~आन्न्द)	←आनन्द	१ बार

'ि' का प्रयोग उचित स्थान से पहले

आरिम्भक	←आरम्भिक	१ बार

'ि' का प्रयोग उचित स्थान के बाद

निश्चित	←निश्चित	१ बार

संयुक्त व्यंजन का दुष्क्रम

आरिम्भक	←आरम्भिक	१ बार

कहीं-कहीं मात्रा-चिन्हों का प्रयोग अधिक हो गया है। 'ि' मात्रा लगाने के बाद भी वर्ण में निहित 'अ' को व्यक्त करनेवाला अंश बनाए रखने का उदाहरण 'पशिचम' एक बार मिला है। 'ा' मात्रा लगाकर ह्रस्व 'अ' को दीर्घ कर देने का उदाहरण एक-एक बार प्राप्त 'आभाव' और 'सांस्कृति' में प्राप्त हुआ है। कोई मात्रा-चिन्ह किसी शब्द में एकाधिक बार लगना है तो उसके प्रभाव से अनावश्यक स्थान पर भी वही मात्रा-चिन्ह लग जाने का उदाहरण 'पिरिस्थिति' (←परिस्थिति) प्राप्त हुआ है। 'जाए' के लिए एक स्थान पर 'जाएँ' मिला है।

मात्रा-चिन्ह या अक्षरांश न लगाने की असावधानी अपेक्षाकृत अधिक मिली है। प्राप्त उदाहरण निम्नलिखित हैं :—

'ा' का लोप

मध्य में

मूलक←मूलक	१ बार
आन्द←आनन्द	"
दिखया←दिखाया	"

अन्त में

दुदर्श←दुर्दशा	१ बार

'ि' का लोप

मध्य में

परिस्थतयों←परिस्थितियों	१ बार
मैथली←मैथिली	"
साहित्यक←साहित्यिक	२ बार

'न्' का लोप

मध्य में

ज्ञानेद्रिय←ज्ञानेन्द्रिय	१ बार
भारतेदु←भारतेन्दु	"

' ' का लोप

मध्य में

राष्ट←राष्ट्र	१ बार
ह्रासोन्मुख←ह्रासोन्मुख	"

'ड़' के लिए 'ड' के प्रयोग के उदाहरण भी मिले हैं। इस ध्वनि-भेद को द्योतित करनेवाले बिन्दु का अभाव निम्नलिखित शब्दों में प्राप्त हुआ है :—

बडी←बड़ी	२ बार
पडता←पड़ता	१ बार
पडी←पड़ी	"
दौडानी←दौड़ानी	"

'ढ' के लिए एक स्थान पर 'ढ़' (ढ़ंग←ढंग) प्राप्त हुआ है। विश्लिष्ट निबन्धों में इसकी और सामग्री न मिल पाने के कारण यह कहना कठिन है कि ऊपर वाले बिन्दु के प्रभाव के कारण नीचे भी बिन्दु लग गया है अथवा 'ढ़' विद्यार्थियों को अधिक सुपरिचित लगता है। यदि कारण बादवाला है तो 'ड' से उसकी इस प्रवृत्ति का भेद द्रष्टव्य है।

बिन्दु का प्रयोग नासिक्य व्यंजनों के लिए तथा स्वरों की अनुनासिकता के लिए व्यापक रूप से होता है। वर्त्तनी में कुछ स्थलों को छोड़कर शेष स्थलों पर उसका ध्वनिगत मूल्य परिवेश के आधार पर पूर्वानुमेय है; कुछ स्थलों पर उपर्युक्त दोनों ध्वनिगत मूल्यों में से किसी एक का चयन भाषा-ज्ञान तथा अभ्यास पर निर्भर करता है। इस प्रक्रिया के नियमों की चर्चा हम यहाँ नहीं करेंगे। इतना कहना पर्याप्त होगा कि यदि मानक वर्त्तनी में कहीं चन्द्रबिन्दु का प्रयोग होता है तो वह नासिक्य व्यंजन का द्योतक कदापि नहीं होता, अनिवार्यत: अनुनासिकता का द्योतक होता है। टंकण-यंत्र में चन्द्रबिन्दु के अभाव के कारण उसके स्थान पर सर्वत्र बिन्दु का प्रयोग करने की प्रवृत्ति मुद्रणालयों में व सुशिक्षित समाज के लेखन तक में फैल चुकी है। ऐसी स्थिति में उसे 'अशुद्धता' कहना कहाँ तक ठीक है, इस बात का निर्णय कठिन है। विश्लिष्ट निबन्धों में एक भी उदाहरण ऐसा नहीं मिला जिसमें बिन्दु के स्थान पर अशुद्ध रूप से चन्द्र-बिन्दु का प्रयोग किया गया हो जबकि चन्द्रबिन्दु के स्थान पर बिन्दु के प्रयोग के उदाहरण व्यापक रूप से प्राप्त हुए हैं। एक विद्यार्थी ने चन्द्रबिन्दु का शुद्ध प्रयोग किया है और कहीं-कहीं उन्हीं शब्दों की वर्त्तनी में वैकल्पिक रूप से बिन्दु का प्रयोग किया है अर्थात् उसकी दृष्टि में चन्द्रबिन्दु का प्रयोग उन सब स्थलों में नहीं हो सकता जहाँ बिन्दु का होता है लेकिन बिन्दु का प्रयोग उन सब स्थलों में हो सकता है जहाँ चन्द्रबिन्दु का प्रयोग होता है। एक अन्य विद्यार्थी ने यादृच्छिक रूप से इन दोनों चिन्हों के प्रयोग में बड़ा रोचक पूरक बंटन निर्धारित कर लिया है; वह 'आ' के ऊपर तो सर्वत्र बिन्दु लगाता है किन्तु उसकी मात्रा (अर्थात् व्यंजनानुगामी 'आ' ध्वनि) के ऊपर सर्वत्र चन्द्रबिन्दु लगाता है। उदा० 'आंखों' और 'पाँचों'।

चन्द्रबिन्दु के बजाय बिन्दु के प्रयोग के निम्नलिखित उदाहरण मिले हैं :—

मांग←माँग	१ बार
मांगे←माँगें	"
भांति←भाँति	"
पांच←पाँच	१ बार
आंखों←आँखों	५ बार

प्रवृत्तियां←प्रवृत्तियाँ	१ बार
बंधी←बँधी	"
बधें बंधाए←बँधे बँधाए	"
घूटं←घूँट	"
घूंट←"	"
ठूंस←ठूँस	"
विधाएं←विधाएँ	४ बार
रचनाएं←रचनाएँ	२ बार
घटनाएं←घटनाएँ	१ बार

चन्द्रबिन्दु के स्थान पर कुछ भी प्रयोग न करने के दो उदाहरण मिले हैं :—

कलाए (~कलाएँ)←कलाएँ	१ बार
विधाए ←विधाएँ	"

जहाँ बिन्दु की आवश्यकता नहीं है, वहाँ भी उसका प्रयोग कर जाने के निम्नलिखित उदाहरण मिले हैं :—

हैं←है	३ बार
होतें हैं←होते हैं	२ बार
रहीं हैं←रही हैं	"
सकें(~सके)←सके	"
भीं←भी	३ बार
सकतें←सकते	१ बार
नें←ने	२ बार
इसकें←इसके	१ बार
लिखनें←लिखने	३ बार
सें←से	"
हुईं←हुई	"
धीरें←धीरे	१ बार
क्योंकि←क्योंकि	"
उठें←उठे	"
अच्छें←अच्छे	"
देखनेंवालों←देखनेवालों	"
जाएं←जाए	"

इन उदाहरणों से कहीं-कहीं ऐसा लगता है कि शब्द में विद्यमान एक बिन्दु के प्रभाव से दूसरा बिन्दु भी लग जाता है और नासिक्यानुगामी अस्वानिमिक स्वरानुनासिकता के लिए भी कहीं-कहीं बिन्दु लग जाता है। किन्तु समग्र रूप से देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रकार के नियमों की खोज यथार्थ से दूर है। वस्तुतः विद्यार्थी बिन्दु को अधिक महत्व नहीं देते हैं; कहीं उसे लगा जाते हैं, कहीं आवश्यक होने पर भी नहीं लगाते हैं। एक विद्यार्थी ने 'है' और 'हैं' में सब जगह ठीक अन्तर किया है; लेकिन एक स्थान पर 'है' के लिए 'हैं' लिख गया है। एक विद्यार्थी ने मनमाने ढंग से कहीं 'है' का तो कहीं 'हैं' का प्रयोग किया है। एक निबन्ध में बिन्दु का भरपूर प्रयोग अनावश्यक स्थानों पर किया गया है।

ऐसे उदाहरण बहुत अधिक मिले हैं जिनमें बिन्दु का प्रयोग होना चाहिए था किन्तु हुआ नहीं है। प्राप्त शब्द निम्नलिखित हैं :—

है←हैं	१५ बार
मैं←में	१ बार
मे←में	३ बार
थी←थीं	२ बार
बाते←बातें	,,
मांगे←माँगें	,,
आंखो (~आखों~आंखों)←आँखों	१ बार
आंखो (~आंखों)←आँखों	,,
आंखो←आँखों	,,
लोगो←लोगों	,,
वर्गो←वर्गों	,,
सन्तो←सन्तों	,,
पात्रो (~पात्रों)←पात्रों	,,
कानो←कानों	,,
क्योकि←क्योंकि	,,
उन्हे←उन्हें	,,
हमे←हमें	,,
नही←नहीं	१० बार
नही (~नहीं)←नहीं	१ बार
बोलो←बोलों	,,
दोनो←दोनों	२ बार
सस्कृत←संस्कृत	१ बार

इनमे←इनमें	१ बार
उन्होने←उन्होंने	२ बार
नाटको←नाटकों	५ बार
पीढ़ियो←पीढ़ियों	१ बार
विद्वानो←विद्वानों	३ बार
आचार्यो←आचार्यों	१ बार
विधायो←विधाओं	,,
रंगमच←रंगमंच	३ बार
मुसलमानो←मुसलमानों	२ बार

इनमें दो विद्यार्थी ऐसे मिले हैं जिन्होंने बिन्दु का प्रयोग किसी भी शब्द में नहीं किया है। एक अन्य विद्यार्थी ने प्रत्येक ओकारान्त शब्द को ओकारान्त कर दिया है।

ऐसे उदाहरण भी मिले हैं जिनमें बिन्दु का प्रयोग हुआ है किन्तु उचित स्थान के पूर्व या पश्चात्। प्राप्त शब्द निम्नलिखित हैं :—

उचित स्थान से पहले

नंही←नहीं	२ बार
स्वंय←स्वयं	१ बार
पंसद←पसंद	,,
एंकाकी←एकांकी	२ बार
सकतें है←सकते हैं	,,
बतायें है←बताये हैं	,,

उचित स्थान के बाद

ढ़ग←ढंग	१ बार
घूटं←घूँट	,,
इन्होनें←इन्होने	२ बार
पचम←पंचम	१ बार
सवांद←संवाद	,,
सस्कृंत(~सस्कृत~सस्कृत)←संस्कृत	,,
सकंलन←सकलन	,,
रंगमचं←रंगमंच	,,

निष्कर्ष

एक अत्यन्त उल्लेखनीय बात यह है कि विश्लिष्ट निबन्धों में से एक भी ऐसा नहीं है जिसमें वर्त्तनी की अशुद्धियाँ न मिली हों। न्यूनतम अशुद्धियों की संख्या ४ है और ४ अशुद्धियाँ करनेवाले दो विद्यार्थी मिले हैं। इससे यह विदित होता है कि उत्तम विद्यार्थी भी वर्त्तनी की शुद्धता को अधिक महत्त्व नहीं देते। हमारे अध्यापन में किसी स्तर पर वर्त्तनी की शुद्धता के लिए अभ्यास कराने की व्यवस्था आवश्यक है। उच्चारण और लेखन का सम्बंध स्पष्ट करने के लिए यदि किसी के लेख के अशुद्ध स्थलों को लेखानुसार ही पढ़ते हुए लेखक को सुनाया जाय तो उसे चिढ़ाए जाने का आभास होगा और वर्त्तनी की ओर उसका ध्यान जायगा। अभी तो वर्त्तनी में भी समधिकता का सिद्धान्त लागू किया जा रहा है अर्थात् शायद अवचेतन में यह तर्क काम कर रहा है कि यदि यह बात समझ में आ जाती है कि कौन-सा शब्द अभीप्सित है तो वर्त्तनी की ओर ध्यान देने की क्या आवश्यकता है।

संस्कृत के तत्सम शब्द क्लिष्ट माने जाते हैं। समूचे वर्णों में मिलनेवाली अधिकांश अशुद्धियाँ उन्हींमें मिलती हैं। सामान्य शब्दावली में मिलनेवाली अशुद्धियों में समूचे वर्णों की अशुद्धियाँ प्रायः नहीं मिलतीं। अधिकतर अशुद्धियाँ मात्राओं में या बिन्दु में मिलती हैं। वर्णमाला वैज्ञानिक होकर भी अधिक विकल्पों के कारण जटिल हो जाती है। ककहरा इस दृष्टि से अधिक सरल होता है। इस बात का प्रमाण उपर्युक्त विश्लेषण से प्राप्त हो जाता है।

अधिकतर अशुद्धियाँ केवल असावधानी से हो रही हैं जिन्हें थोड़े-से अभ्यास के द्वारा दूर किया जा सकता है। कुछ अशुद्धियाँ (?) या अनियमितताएँ ऐसी हैं जिनके लिए किसी बड़ी विद्वत्समिति द्वारा वैज्ञानिक और सुविचारित सर्वसम्मत निर्णय दिये जाने की आवश्यकता है; एक-दो विद्वानों के मत कितने भी शुद्ध और वैज्ञानिक क्यों न हों, बहुमत उन्हें यों ही स्वीकार नहीं कर लेता : इसका कारण चाहे प्रमाद हो, चाहे अल्पज्ञता, चाहे अहंकार।

INDIAN INSTITUTE OF ADVANCED STUDY
Acc. No. 94493
Date 07/3/2000
SIMLA